बाबा श्रीमस्तराम जी की जीवनरूपरेखा तथा उनके आध्यात्मिक सिद्धान्त

कांशीराम
नानी मां

प्रथम संस्करण
2023

प्रकाशक: कांशीराम
अपार्टमैन्ट नं. 002
टावर V GH-03
हाइड पार्क सैक्टर 78, नोएडा
गौतम बुद्ध नगर
यू.पी. 201301

© प्रकाशक

प्रथम संस्करण 2023
500

प्रिन्टर्स
मोतीलाल बनारसीदास इन्टरनैशनल

प्राक्कथन

होलिस्टिक साइन्स रीसर्च सैंटर, कामरेज, सूरत ने भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के साथ मिलकर आधुनिक भारत के सन्तों के दर्शन तथा आध्यात्मिक उपदेशों को लेकर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया। संगोष्ठी के एक प्रबन्धक के रूप में मद्रास विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रोफेसर श्रीगोदाबरीश मिश्र ने मुझसे साग्रह अनुरोध किया कि मैं राष्ट्रीय संगोष्ठी में आधुनिक भारत के अद्भुत सन्त बाबा श्रीमस्तराम के ऊपर एक लेख का वाचन करूं। इस विषय में मैंने नानी मां से संपर्क किया और इसके बारे में उन्हें बताया। उन्होंने सलाह दी इस अवसर पर मैं बाबाजी के जीवन तथा उनके दर्शन पर कुछ संक्षिप्त वक्तव्य तैयार करूं और उसे संगोष्ठी में प्रस्तुत करूं। मैंने मस्तभाष्य के आधार पर बाबाजी के दर्शन पर तथा विभिन्न स्रोतों से जो कुछ भी उनके जीवन की रूपरेखा के लिये सामग्री उपलब्ध हुई उसको आधार बनाकर अंग्रेजी भाषा में एक लेख तैयार किया और उसे नानीजी को दिखा दिया। उन्होंने लेख को देखकर अपनी सहमति प्रकट की। मैंने 13 मार्च 2021 को यह लेख जिसका शीर्षक था 'जीवनमुक्त बाबा श्रीमस्तरामजी' उपर्युक्त राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा। इस अवसर ने तथा प्रोफेसर गोदाबरीश मिश्र ने मुझे प्रेरित किया कि मैं एक पुस्तिका तैयार करूं जिसमें बाबाजी के अल्प जीवनपरिचय के साथ उनके आध्यात्मिक दर्शन को प्रकाश में लाया जा सके। गत वर्ष नानीजी तथा मैंने मिलकर एक लघुपुस्तिका अंग्रेजी भाषा में तैयार करके बाबाजी के श्रीचरणों में समर्पित की थी।

ऐसा बहुत ही अल्प अवसर आया जिससे बाबाजी के पूर्व जीवन, उनके माता-पिता या उनके निवास स्थान के बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सके। उन्होंने स्वयं भी शायद ही ऐसा कोई विशेष उल्लेख किया हो जिससे इन सब पहलुओं पर प्रकाश डाला जा सके। इसलिये इन पहलुओं से सम्बन्धित जानकारी अधिकतर गुप्त ही रही। फिर भी भक्तों के द्वारा किये गये प्रश्नों के उत्तरों में तथा धर्मशाला में हुई

बातचीत के दौरान दिये गये संकेतों से बाबाजी के जीवन से सम्बन्धित एक अत्यन्त लघु चित्रण तैयार करने का प्रयास किया गया। अपने से सम्बन्धित प्रत्येक चीज़ के प्रति बाबाजी की अत्यन्त उदासीनता यह प्रदर्शित करती है बाबाजी वैराग्य की प्रतिमूर्ति थे।

यहां यह बताना उचित होगा कि नानीजी 1971 से 1987 तक बाबाजी के आध्यात्मिक सांनिध्य में रहीं। इन सोलह वर्षों में बाबाजी ने उन्हें उनकी आध्यात्मिक यात्रा में मार्गदर्शन किया। इस दौरान उन्होंने देखा कि एक आत्मसाक्षात्कारसंपन्न व्यक्ति की जीवन पद्धति कैसी होती है? बाबाजी के सांनिध्य में जीवन व्यतीत करते हुए बाबाजी के जीवन से सम्बन्धित कतिपय घटनाओं को भी उन्होंने लिपिबद्ध किया जो मेरी धेवती के द्वारा डिज़ाइन की हुई वैबसाइट पर अपलोड कर दिये गये ताकि बाबाजी के आध्यात्मिक संदेश जिज्ञासुओं तक पहुंच सकें। इस लघु पुस्तिका को तैयार करने में इन घटनाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

बाबाजी की कृपा से अब हम गत वर्ष अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित लघु पुस्तिका का हिन्दी में अनुवाद विनम्रतापूर्वक भक्तजनों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें बाबाजी के जीवन पर तथा उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर यथाशक्ति तथा यथाबुद्धि प्रकाश डाला गया है। उनका स्वयं का जीवन तो आध्यात्मिकता का एक आदर्श दृष्टान्त था ही फिर भी उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों का इस पुस्तिका में संक्षिप्त प्रतिपादन श्रीमद्भगवद्गीता के मस्तभाष्य के आधार पर हुआ है। मस्तभाष्य में बाबाजी के द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता के मुख्यतः दूसरे तथा तीसरे अध्यायों पर दिये गये प्रवचनों का संकलन है। ये प्रवचन 9 दिसम्बर 1965 से 28 मार्च 1967 तक दिये गये थे।

श्रद्धावनत

कांशीराम तथा नानी मां

संकेताक्षर

भ. गी. = भगवद्गीता

वा. रा. = वाल्मीकि रामायण

कोष्ठक में दी गई संख्या मस्तभाष्य की पृष्ठसंख्या है।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः
सद्गुरवे बाबाश्रीमस्तरामाय नमः

बाबा श्रीमस्तराम जी की जीवनरूपरेखा तथा उनके आध्यात्मिक सिद्धान्त

अपने भौतिक जीवन के अन्तिम भाग को व्यतीत करने के लिये बाबाजी ने जिस स्थान को चुना वह गंगा नदी का किनारा था जहां हनुमान् शिला है। हनुमान् शिला के समीप ध्यान करने के अनुकूल एक गुफा बाबाजी के रहने का स्थान बनी। तदनन्तर वर्तमान गुफा में बाबाजी रहने लगे। हनुमान् शिला के समीप विपुल मात्रा में बालू है तथा कई स्थलों पर छोटे गोल-गोल पत्थर बिखरे हुए हैं। यहां बड़े-बड़े शिलाखण्ड हैं जो गर्मी के दिनों में छाया प्रदान करते हैं तथा उन लोगों के लिये शयन के स्थल बन जाते हैं जो संसार से विरक्ति का अनुभव करते हैं। गंगा जी का स्वाभाविक प्रवाह यहां सामान्य नहीं है। यहां सीधा पश्चिमोन्मुख गंगा जी का प्रवाह है लेकिन ठीक गुफा के सामने गंगा जी का प्रवाह विपरीत हो जाता है जिसके कारण यहां एक भंवर जैसा बन जाता है जो दिखाई नहीं देता। अदृश्य भँवर के कारण यह स्थान स्नान करने के लिये सुरक्षित नहीं है, विशेषकर उस व्यक्ति के लिये जिसको इस स्थान से कोई परिचय नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से गंगा का यह विपरीत प्रवाह स्वाभाविक रूप से बाहर जाने वाली इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके हृदयाकाश में ध्यान करने का संकेत करता है। छान्दोग्य उपनिषद् 8. 1. 1 में प्रतिपादित दहरविद्या पर भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने कहा है कि ब्रह्मपुर में वर्तमान जो अल्प हृदयकमल है उसके अन्दर स्थित जो अल्प आकाश है उस अल्प आकाश के अन्दर स्थित अन्वेषणीय तत्त्व ब्रह्म है उसे जानना चाहिये (अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति)। विपरीत

गंगा प्रवाह मानो इसकी ही सूचना देता है। यदि भक्ति के दृष्टिकोण से देखा जाये तो ऐसा कहा जा सकता है कि इस स्थान पर गंगा नदी दुर्लभ दर्शन वाले पावन जीवन्मुक्त सिद्ध पुरुष की झलक पाने के लिये मुड़ती है।

यह प्राकृतिक दृश्य जहां बाबाजी का आश्रम है, राजसी शिवालिक पर्वत श्रृङ्खलाओं के मध्य स्थित है। यह स्थान राम झूला से 800 मीटर ऊपर तथा लक्ष्मण झूला से 800 मीटर नीचे है। यह आश्रम गंगा जी के दक्षिण तीर पर स्थित है जो समीपस्थ वनों से आच्छादित पर्वतीय ढलानों से घिरा हुआ है। गंगाजी का मुख्य प्रवाह यहां शान्त है जिसका स्वच्छ तथा गंभीर स्वरूप परम चैतन्य के निर्मल तथा अगाध विस्तार के समान प्रतीत होता है। आश्रम का शान्त वातावरण अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति के लिये अत्यन्त प्रेरक है क्योंकि यहां चारों ओर का परिवेश मन को स्थिर करने में अत्यन्त सहायक है। मन की स्थिरता से आध्यात्मिक दृष्टि से वाञ्छनीय एकाग्रता प्राप्त होती है जो इन्द्रियों के विषयों की ओर झुकाव को नियन्त्रित करने के लिये अत्यन्त अनिवार्य है। इस प्रकार यह स्थल चित्त की प्रशान्तवाहिता (चित्तवृत्तियों की निरुद्धावस्था का प्रवाह) प्राप्त करने के लिये तथा आध्यात्मिक साधना के लिये अत्यन्त अनुकूल है।

परम श्रद्धेय बाबा मस्तरामजी के जीवन के संक्षिप्त विवरण को बाबाजी की अत्यन्त उदात्त रचनाओं में एक रचना का उद्धरण देते हुए प्रारम्भ करते हैं जो बहुत ही सुन्दर तरीके से बाबाजी की आध्यात्मिक अनुभूति का चित्रण करती है। साथ ही इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि एक समर्पित, वैराग्यसम्पन्न तथा गंभीर साधक की आध्यात्मिक यात्रा कैसी होती है?

अथ विरक्तगीतम्

आदौ वसन्तात्शीतान्तकाले
गावोऽपि यस्मिन्यान्ति प्रकम्पम्।

अश्वत्थमूले रिक्तो विरक्तः
जङ्घां हनुं च संयुज्य सम्यक्।।1।।
सम्पूर्णरात्रौ संचिन्त्य किंचिद् गर्भस्थबालो यद्वद्धि तद्वत्।
प्रातःप्रकाशं प्राचीं प्रतीक्ष्य
गीतं समागात्स्वस्थस्तदित्थम्।।2।।
याता त्रियामा जातं प्रभातम्
भास्वान्प्रभूतः शीतं समाप्तं गीतं समाप्तम्।।3।।
इति विरक्तगीतम्।।

वैराग्यगीत में उल्लिखित वसन्त ऋतु का प्रारम्भ विद्या के उदय का प्रतीक है और शीत ऋतु की समाप्ति अज्ञान का अन्त सूचित करती है। हमारी ज्ञानेन्द्रियां जिनकी तुलना गायों से की जाती है, ऋतु परिवर्तन में कम्पन का अनुभव करती हैं अर्थात् आध्यात्मिक उपासना के अभ्यास से बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के बलहीन हो जाने पर तथा अपने विषयों से दूर हो जाने पर सूक्ष्मता को प्राप्त करके अपने स्त्रोत में लीन होने के लिये तत्पर हो जाती हैं। अश्वत्थ वृक्ष का मूल ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करता है। इसके नीचे बैठना ब्रह्म के सतत ध्यान का प्रतीक है। रिक्त शब्द का अर्थ खाली होता है। इससे सांसारिक पदार्थों का अभाव सूचित हो सकता है अथवा इससे यह भी संकेत मिलता है कि चित्त में चिन्तन के बन्द होने से वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो गया है। विरक्तशब्द का अर्थ है कि सांसारिक पदार्थों से सम्बद्ध समस्त आशाओं की समाप्ति। घुटने तथा ठोड़ी का मिलना जन्म लेने के लिये तत्पर गर्भस्थ शिशु का प्रतीक है जो एक नये भाव में प्रविष्ट होने की सूचना देता है। समस्त रात्रि में चिन्तन की प्रक्रिया परम तत्त्व के सतत चिन्तन को सूचित करती है अर्थात् इससे निदिध्यासन का ज्ञान होता है जो सम्यक् रूप से सम्पादित श्रवण तथा मनन के अनन्तर घटित होता है। प्रतीक्ष्य तथा संचिन्त्य में पूर्वकालिक ल्यप्-प्रत्यय वास्तव में अज्ञाननिवृत्ति तथा ब्रह्मानुभूति के मध्य किसी भी अन्तराल को सूचित नहीं करता है। गीत का उदय यह बताता है कि वे परम तत्त्व में स्थित हो गये। अज्ञान की रात्रि बीत

गई तथा ज्ञान का प्रतीक प्रकाशमान सूर्य उदित हो गया। अज्ञानरूपी शीत ऋतु समाप्त हो गई और सांसारिक प्रतीतियों में विद्यमान राग भी अवरुद्ध हो गया अर्थात् संसार में आसक्ति भी सर्वथा समाप्त हो गई।

ऐसा शायद ही कोई अवसर आया हो जो बाबा मस्तरामजी के पूर्वजीवन या उनके माता-पिता या उनके मूल निवास के विषय में कुछ परिचयात्मक सूचना देने में सहायक हो। उन्होंने भी स्वयं शायद ही कभी कुछ ऐसा कहा हो जो इन परिस्थितियों का परिचय करा सके। इसलिये इस प्रकार के विवरण अधिकतर गुप्त ही रहे। जब ऋषिकेश में बाबा मस्तराम जी के बारे में पता चला तब उससे पहले का कुछ भी मालूम नहीं था। जो कुछ उनके बारे में पता था वह यह था कि रामझूला तथा लक्ष्मण झूला के मध्यवर्ती हनुमान् शिला में 1960 के पश्चाद्वर्ती दशक के पहले भाग में आने से पूर्व वे स्वर्गाश्रम में स्थित वानप्रस्थ आश्रम के समीप वटवृक्ष के नीचे या गीता भवन के समीप घाट पर बैठा करते थे। श्रीमद्भगवद्गीता के 681 पृष्ठ वाले मस्तभाष्य से बाबाजी के हनुमान् शिला में आगमन का अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि इसमें 9 दिसम्बर 1965 से 28 मार्च 1967 तक बाबाजी के द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता पर व्याख्यान प्रवचन के रूप में दिये गये थे। बाबाजी के पूर्व भक्तों के द्वारा यह ज्ञात होता है कि 1968 से पूर्व वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होने तक वे हनुमान् शिला में रहते थे। वर्षा ऋतु में वे एक चादर लिये नंगे पैर बदरीनाथ चले जाते थे। 1969 के बाद वे हनुमान् शिला में ही रहे।

गर्मियों में वे हनुमान् शिला की छाया में आराम करते थे परन्तु सर्दियों में वे गंगा के बालूतट पर धूप में बैठा करते थे। बाबाजी को गंगातट की बालू में लेटना अत्यधिक प्रिय था। हनुमान् शिला के नीचे जिस स्थान पर बाबाजी बैठा करते थे उसे मठ के नाम से जाना जाता है। रात के समय वे कभी इस शिलाखण्ड के नीचे तो कभी उस शिलाखण्ड के नीचे सो जाया करते थे। प्रारम्भ में वे हनुमान् शिला के निकट गुफा में रहते थे। बाद में उन्होंने वर्तमान गुफा को अपने रहने का स्थान बना लिया था। वर्षा ऋतु में वे इस गुफा में रहना बन्द कर देते थे क्योंकि यहां पानी भर जाता था। नवरात्र के आने पर इस गुफा

का मिट्टी तथा गोबर से लीप कर पुनः नवीनीकरण होता था। गुफा के द्वार पर एक चबूतरा है जहां पर सायंकाल भक्त लोग बाबाजी के सामने बैठते थे। इस आश्रम में धर्मशाला भी थी जो बिना सीमेंट तथा ईंट के लकड़ी के स्लीपरों तथा तिरपाल से बनी हुई थी। यह धर्मशाला सत्संग हाल के समान प्रयुक्त होती थी। पूर्वाह्न काल में तथा दोपहर के बाद के समय में भक्त लोग बाबाजी के दांये तथा बांये बैठते थे। अधिकतर उनकी उपस्थिति में शान्ति का साम्राज्य रहता था। यदा कदा बाबाजी भक्त लोगों के प्रश्नों का उत्तर देते थे और कभी-कभी पूछे गये बिन्दुओं से उठने वाले विषयों को विस्तार से भी समझाते थे।

जब मेरे किसी एक परिचित ने मुझे बाबाजी के बारे में बताया तो मैंने अपना मन बना लिया कि मैं बाबाजी के दर्शन करने जाऊंगा क्योंकि मैं हमेशा आध्यात्मिक अनुभव से सम्पन्न व्यक्तियों की तलाश में रहता था। प्रथम बार मैंने उनके दर्शन जून, 1981 में किये। प्रथम दर्शन में मैं उनकी उपस्थिति से अभिभूत हो गया था और मुझे अनुभव हुआ कि आध्यात्मिक अनुभूति से सम्पन्न व्यक्तियों की मेरी अन्वेषणा का यह अन्त था। यह प्रभाव इतना हृदय को झकझोर देने वाला था कि मैं विश्वविद्यालय में होने वाली शरद् ऋतु की छुट्टियों में अपने आप को नहीं रोक पाया जबकि मेरे पैर में अच्छी-खासी चोट लगी हुई थी। उनके सौम्य तथा अभिभूत कर देने वाले आध्यात्मिक प्रभाव में डुबकी लगाने वहां पहुंच गया जबकि मार्ग में पैर के दर्द के कारण मेरी आँखों में आंसू भी आ जाते थे।

देहात्म अध्यास से ऊपर उठे हुए व्यक्ति को देखने का मेरा यह प्रथम अनुभव था। देहात्माध्यास से ऊपर उठना तभी संभव है जब व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। और यह भी तभी संभव है जब व्यक्ति परम वैराग्य को प्राप्त कर लेता है। परम वैराग्य के अभ्यास के फलस्वरूप व्यक्ति में ऐसा सामर्थ्य आ जाता है जिससे वह शारीरिक सीमाओं से ऊपर उठ जाता है। अन्यथा बाबाजी एक सूती चादर में बदरीनाथ जैसे शीत से परिपूर्ण स्थल में कैसे रह सकते थे? जीवन्मुक्त अथवा श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ के समस्त लक्षण उनमें दृष्टिगोचर होते थे। मैंने कभी भी

उनमें भय का लेश नहीं देखा क्योंकि द्वैत के अनुभव के कारण ही व्यक्ति में भय होता है जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् 1.4.2 में कहा गया है - द्वितीयाद्वै भयं भवति। भय का अभाव यह बताता है कि सत्य एक है और बाबाजी सत्य से भिन्न नहीं है। समत्वबुद्धि ने उनको कभी भी नहीं छोड़ा चाहे कोई उनकी प्रशंसा करे, माला पहनाए या कोई उनके लिये अपशब्द बोले। उन्होंने कभी किसी से घृणा नहीं की। मैंने यह देखा भी था और सुना भी कि उन्होंने असहनीय शारीरिक कष्टों को सहा और कभी भी उन कष्टों के उपचार के लिये प्रयत्न नहीं किया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने कभी भी सामान्य औपचारिक चिकित्सा पद्धति का सहारा नहीं लिया। यह सब उसी व्यक्ति के सन्दर्भ में संभव है जो अद्वैत की साक्षात् मूर्ति हो अर्थात् जिसने अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया हो। यहां मैं एक ऐसी घटना का वर्णन करना चाहता हूँ जिससे बाबाजी के स्वरूप में स्थित होने की प्रामाणिकता का ज्ञान होता है।

एक बार बनारस के समीप गंगा जी में स्नान करने के लिये गंगा की मुख्य धारा तक पहुंचने के लिये बाबाजी को कीचड़ भरे पानी में से गुजरना पड़ा। इसी समय इस स्थान पर सकुची नाम से प्रसिद्ध एक विषैली मछली ने उनके पैर को डस लिया। पास में खड़े ग्रामवासियों को समझ में आ गया कि बाबाजी को विषैली मछली ने डस लिया है। उन्होंने बाबाजी से कहा कि यह मछली अत्यन्त विषैली है। उन्होंने यह भी समझाया कि उस मछली का डंक अत्यन्त पीड़ादायक भी है तथा इसका उपचार करना भी कठिन है। वास्तव में एक ही उपाय था कि एक लोहे के सरिये को आग में तपा कर तथा उसको लाल करके तीन दिन तक लगातार घाव पर लगाया जाये। ग्रामवासियों ने बाबाजी को तीन दिन तक गाँव में रुकने की सलाह दी ताकि वे घाव का उपचार कर सकें जिससे घाव के कारण भविष्य में होने वाली किसी भी दुरवस्था के निमित्त आवश्यक उपचार सम्बन्धी समस्या से बचा जा सके। बाबाजी ने उनको एक लोहे के सरिये को आग में गरम करके घाव पर लगाने की अनुमति दे दी। जैसे घाव का मांस कड़कड़ाने लगा बाबाजी को वह आग में तपा हुआ लाल सरिया

चन्दन की तरह शीतल लगा और उनको दंश के कारण होने वाले दर्द से आराम मिला। जब बाबाजी ने ग्रामवासियों के साथ गाँव में जाने से मना कर दिया तब वे यह कहते हुए चले गये कि उपचार की पुनरावृत्ति के लिये कल प्रातः वहां आयेंगे। उस समय बाबाजी इस नियम का पालन कर रहे थे कि वे एक रात से अधिक कहीं भी नहीं रुकेंगे। इस कारण ग्रामवासियों के आने से पहले ही वे प्रातःकाल शीघ्र ही वहां से निकल पड़े और पूर्ववत् भ्रमण करने लगे। घाव ठीक नहीं हुआ और वह सड़ने लगा। इस स्थिति में बाबाजी लगभग 800 मील पैदल चलते रहे। परन्तु विषाक्त घाव के कारण वे ज्वरग्रस्त हो गये थे। एक रात जब वे बालू में सो रहे थे तब घाव की गन्ध से आकृष्ट होकर एक सियार बाबाजी के पास आया और सड़े हुए मांस को खाने लगा। बाबाजी ने उसे भगाने का कोई प्रयास नहीं किया परन्तु बाबाजी को जीवित देखकर वह स्वयं भाग गया। सियार की लार का घाव पर अनुकूल असर पड़ा और वह घाव ठीक होकर बाबाजी के टखने के ऊपर एक बड़ा निशान छोड़ गया। इस घटना से हम यह समझ सकते हैं कि बाबाजी एक अवधूत संन्यासी थे। इसलिये उन्होंने ग्रामवासियों के अनुरोध के अनुसार लगातार तीन दिन तक गाँव में रुककर सामान्य चिकित्सा पद्धति से घाव का उपचार कराने का प्रयत्न नहीं किया। यदि वे ऐसा करते तो संन्यास के नियमों का उल्लंघन हो जाता। इस प्रकार की घटना यह समझने में हमारी सहायता करती है कि बाबाजी ने एक आदर्श संन्यासी का जीवन जिया और कभी भी अपने संन्यास के मार्ग से विचलित नहीं हुए।

नानी मां के कथनानुसार बाबाजी का जन्म एक पुरोहित परिवार की गोशाला में हुआ। दो-तीन दिन के बाद इनकी मां का देहान्त हो गया था। इनकी नानी ने इनका पालन-पोषण किया। आधुनिक अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने का अवसर न मिलने के कारण इनकी प्रारम्भिक शिक्षा एक स्थानीय पाठशाला में हुई। इसका कारण था कि स्कूल में प्रवेश के समय गिरने के कारण इनका हाथ टूट गया था। इनके जन्मस्थान के समीप पहाड़ी पर एक हनुमान् जी का मन्दिर है - इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने मूल निवास के विषय में कभी कोई अन्य संकेत नहीं

दिया। जब वे लगभग 16 वर्ष के थे तब उनके मन में कुम्भ मेले में जाने की इच्छा हुई। चार-पाँच रुपये लिये कुर्ता-पायजामा पहने हुए कुम्भ मेला देखने के लिये चल दिये। इसके बाद वे कभी घर नहीं लौटे। जब संन्यास का भाव आया तब इन्होंने संन्यास लेने का निश्चय कर लिया और एक पोस्टकार्ड पर ''अथातो वैराग्यम्'' लिखकर पिताजी को भेज दिया। फलस्वरूप बाबाजी ने एक साधु की तरह रहने का निर्णय कर लिया। उन्होंने रुमाल के कोनों को बाँधकर एक छोटा सा थैला बना लिया ताकि उसमें वे भिक्षा में प्राप्त वस्तुएं रखी जा सकें। जैसे ही वे भिक्षा के लिये एक गाँव में प्रवेश करने लगे तभी इन्हें एक संन्यासी मिला जो उसी गाँव से भिक्षा लेकर आ रहा था। उस संन्यासी ने बाबाजी से पूछा कि क्या वे उस गाँव में भिक्षा के लिये जा रहे हैं। बाबाजी ने कहा ''हां''। संन्यासी ने कहा कि उन्हें पर्याप्त भिक्षा मिली है। संन्यासी ने भिक्षा को परस्पर बाँटने के लिये कहा। बाबाजी ने इसे परमात्मा की ओर से एक संकेत रूप में लिया और कभी भिक्षा न मांगने का व्रत ले लिया। इस प्रकार वे अयाचित वृत्ति वाले साधु बन गये अर्थात् बिना मांगे जो मिला उस पर जीवन निर्वाह करने लगे। उन्होंने कभी एक बार ऐसा कहा भी था कि उनको एक बार 14 दिन तक खाने के लिये कुछ भी नहीं मिला था। 14 दिन के पश्चात् वे एक बेल के वृक्ष के समीप पहुंच गये थे और बेल खा कर अपनी क्षुधा की तृप्ति की।

सामान्यतः बाबाजी वृक्ष के नीचे या किसी मन्दिर या धर्मशाला के बरामदे में रुकते थे। मन्दिर या धर्मशाला के बरामदे को छोड़कर उन्होंने कभी किसी ईंट तथा सीमेंट बने स्थान पर शरण नहीं ली। जीवन के इस दौर में अपने शरीर को ढकने के लिये उनके पास केवल एक वस्त्र होता था और कुछ नहीं। जल रखने के लिये कोई पात्र भी उनके पास नहीं था क्योंकि उनके विचार में पानी सब स्थानों पर उपलब्ध होता है तो पानी रखने के लिये किसी बर्तन की आवश्यकता ही क्या है? वर्षा के समय वे वस्त्र को पोटली बना कर अपनी बगल में रख लेते थे और शरीर पर बिना वस्त्र के रहते थे। जब वर्षा रुक जाती थी तब उसी वस्त्र से शरीर को ढक लेते थे।

इस प्रकार वे साधना के पथ पर चलते रहे। हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वे साधना की ऐसी अवस्था पर पहुंच गये थे जहां उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि साधना से भी व्यक्ति के अहं की पुष्टि होती है। तब उन्होंने संभवतः ऐसा विचार किया होगा कि गत जीवन से सम्बद्ध या भविष्य सम्बन्धी किसी विषय के कारण चित्त में चिन्तन की प्रक्रिया ही अवरुद्ध हो जाये। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें अनिर्वचनीय निराशा की पराकाष्ठा और आशा के उत्कर्ष का बोलबाला होता है। जब ऐसी अवस्था होती है तब अपने स्वरूप की अनुभूति का होना संनिकट होता है। अर्थात् यह स्वरूपानुभूति की पूर्ववर्ती अवस्था है। संभवतः बाबाजी ने यहां पूर्व उद्धृत विरक्त गीत में उसी अवस्था का वर्णन किया हो।

अब मैं आपको यह बताना चाहता हूं कि मैं बाबाजी को किस रूप में देखता था। वे साक्षात् अद्वैत की मूर्ति थे। अद्वैत दर्शन के अनुसार सत्य एक है और शेष दृश्यमान सब उस सत्य पर अध्यारोपित है। इसको समझने के लिये हम स्वप्न का दृष्टान्त लेते हैं। जाग्रत् अवस्था में दिन के समय हम व्यावहारिक कार्य करते हैं। रात्रि में जब हम सोते हैं। सोते समय हमें स्वप्न आते हैं। इस स्थिति में हमारी ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां अपने व्यापार से विरत रहती हैं जो जाग्रत् अवस्था में अपना-अपना कार्य कर रही थीं। उस स्थिति में हम एक नया सृष्ट स्वाप्न जगत् देखते हैं। हमें वृक्ष, इमारतें, सागर, हाथी, शेर आदि दिखाई देते हैं और हम जाग्रत् अवस्था के समान उनके साथ व्यवहार करते हैं और हमारी प्रतिक्रियाएं भी लगभग वैसी ही होती हैं। उस अवस्था में समस्त दृश्यमान जगत् हमारे मन का स्पन्दन होता है (माण्डूक्य कारिका, 3.29)। नींद के कारण मन की सृष्टि हमें बाहर दिखाई देती है। इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में दिखाई देने वाली सकल सृष्टि भी माया के कारण बाहर दिखाई देती हैं जो वास्तव में हमारे भीतर है। इस दृष्टान्त में माया की तुलना निद्रा के साथ की गई है। जैसे नींद के कारण स्वप्न में दिखाई देने वाली मन की सृष्टि ऐसे प्रतीत होती है जैसे बाहर विद्यमान हो। ठीक उसी प्रकार वास्तव में हमारे अन्दर विद्यमान जगत् अज्ञान (माया)

के कारण बाहर विद्यमान सा दिखाई देता है। इस प्रकार मन अपनी सृष्टि के साथ आत्मा पर अध्यारोपित होता है। सर्प-रज्जु का दृष्टान्त भी हमें अध्यास के स्वरूप को समझने में मदद करता है। ब्रह्मज्ञान के आविर्भाव के समय यह मायामय जगत् रहता ही नहीं। केवल ब्रह्म अर्थात् केवल आत्मा रहती है। जैसे सर्प के न रहने पर केवल रस्सी रहती है। सृष्टि की तुलना भ्रम से उत्पन्न सर्प से की जा सकती है और ब्रह्म की तुलना रस्सी से। ज्ञान के उदय होने पर जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तब आत्मा के अतिरिक्त सकल संसार का अस्तित्व ही नहीं रहता। ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर व्यक्ति सर्वत्र अपने को ही देखता है। अग्रिम मन्त्र इस तथ्य का सम्यक् रूप से अनुमोदन करता है:

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। ईशोपनिषद् 6.

"जो सब भूतों को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को सब भूतों में देखता है वह इसके परिणामस्वरूप किसी से भी घृणा नहीं करता।" बाबाजी द्वारा प्रोक्त आत्मचिन्तन का श्लोक भी साक्षात्कार सम्पन्न व्यक्ति की इसी अवस्था की ओर संकेत करता है क्योंकि इस श्लोक में साक्षात्कार की पूर्ववर्ती तथा पश्चाद्वर्ती अवस्था का वर्णन है:

अस्मिन् बृहति ब्रह्माण्डे लघुरूपोऽहमीदृशः।
आत्मतत्त्वे तु विज्ञाते लघुरूपोऽयमीदृशः।। आत्मचिन्तनम्, 21.

"आत्म के ज्ञान के पूर्व व्यक्ति यह सोचता है कि इस विशाल ब्रह्माण्ड में मैं इतने लघु रूप वाला हूं। आत्मा के ज्ञान के बाद् उसकी दृष्टि में यह विशाल संसार अत्यन्त लघु रूप वाला हो जाता है (जैसे मानो हथेली पर आँवला रखा हो)।" इसका यह अभिप्राय है कि जब आत्मा का ज्ञान हो जाता है तब मन की कल्पना से रचित संसार (मनोदृश्यं सचराचरम्) व्यक्ति के हाथ पर रखे हुए एक छोटे आँवले से तनिक भी बड़ा प्रतीत नहीं होता। सार यह है कि विश्व आत्मा से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जैसे भ्रम से उत्पन्न सर्प रस्सी से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। परस्पराध्यास के स्वरूप को समझने के लिये हम एक

लोकप्रिय दृष्टान्त लेते हैं: एक लोहे का गोला जलता है। इस दृष्टान्त में लोहे के गोले के स्वरूप तथा अग्नि में परस्पराध्यास है। इस परस्पर अध्यास के कारण लोहे के गोले का वर्तुलत्व (गोलाकार) अग्नि पर अध्यारोपित हो जाता है और अग्नि गोल प्रतीत होती है। अग्नि का दाहकत्व लोहे के गोले पर आरोपित होता है जिसके कारण जलाने की शक्ति न होने पर भी हम यह कहते हैं कि लोहे का गोला जलाता है। इसी प्रकार अन्तःकरण तथा चैतन्य में परस्पर अध्यास होता है। इस परस्पर अध्यारोप के कारण अज्ञान का परिणाम होने पर भी जड़ अन्तःकरण चैतन्ययुक्त प्रतीत होता है और कोई क्रिया न होने पर भी आत्मा में दर्शन, स्पर्श आदि क्रियाओं के कर्तृत्व की प्रतीति होती है। आत्मा की चेतनता का यह अध्यास अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से शरीर तक पहुंच जाता है। परिणामस्वरूप अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, शरीर आदि चेतन प्रतीत होते हैं और इसके विपरीत चेतन आत्मा चिन्तन, दर्शन आदि विभिन्न क्रियायें करती हुई प्रतीत होती है।

अन्तिम दिन

जब 1986 अप्रैल में हरिद्वार में कुम्भ का मेला लगा था तब बाबाजी के पास अनेकों यात्री आये थे और उन्होंने सम्मानपूर्वक बाबाजी के चरणस्पर्श किये थे। शीघ्र ही बाबाजी ज्वर से ग्रस्त हो गये। बाबाजी के लिये यह प्रत्येक कुम्भ के बाद् होने वाली सामान्य घटना थी। जब भी बाबाजी को ज्वर होता था वे खाना-पीना त्याग देते थे। सामान्यतया ज्वर ठीक हो जाने पर वे खाना-पीना प्रारम्भ कर देते थे। परन्तु इस बार बाबाजी ने सामान्यरूप से खाना-पीना शुरु ही नहीं किया। उनका खाना-पीना अत्यन्त अल्प रहा। इसके कारण उनका शरीर दुर्बल होता चला गया।

बाबाजी के एक पुराने भक्त ऋषिपालजी के अनुसार 1986 में बाबाजी ने गोवर्धन पूजा (अन्नकूट दिवस) के उपरान्त खाना-पीना लगभग त्याग दिया था। 13 अप्रैल, 1987 हनुमान् जयन्ती के दिन बाबाजी इतने निर्बल हो गये थे कि वे हनुमान् शिला भी नहीं जा सके

जैसा कि वे इस दिन जाया करते थे। फिर भी वे उस दिन ठीक-ठाक लग रहे थे जब मैं नवरात्रि के गंगा जल पर व्रत करने के अनन्तर ऋषिकेश से दिल्ली के लिये लौट रहा था। नानीजी ने मुझे बताया कि जब ग्रीष्म ऋतु आई तब बाबाजी बहुत दुर्बल हो गये थे। इस स्थिति में गुफा में जाना तथा उससे बाहर निकलना कठिन हो गया था। एक बार बाबाजी धर्मशाला से गुफा की ओर जा रहे थे। वे बहुत थक गये थे और गुफा के छोटे झरोखे के पास रुक कर अपना सिर गुफा के ऊपर पत्थर पर टिका दिया और कहा, "अब 'बाबा' पुनः धर्मशाला की ओर नहीं जा सकता।"

बिगड़ती हुई शारीरिक अवस्था के कारण जब नित्य दैनिक क्रियाओं के लिये बाबाजी का गुफा में आना-जाना कठिन हो गया तब उस स्थान पर, जो अब समाधि के रूप में जाना जाता है, घास की एक कुटिया बना दी गई। इस कुटिया के दो भाग थे। एक बड़ा जहां बाबाजी सोते थे तथा भक्तों को दर्शन देते थे और एक छोटा जहां बाबाजी नित्य दैनिक क्रियाएं करते थे। जब तक संभव था तब तक बाबाजी धीरे-धीरे कुटिया से बाहर आकर सामने बैठ जाते थे ताकि पर्याप्त संख्या में भक्त लोग उनके दर्शन कर सके। आरती भी कुटिया के सामने ही हो जाती थी। यद्यपि बाबाजी कुछ भी खाना नहीं चाहते थे फिर भी भक्त लोग प्रयत्न करते थे कि बाबाजी कुछ खा लें। धीरे-धीरे वे पेय पदार्थ पर ही रहने लगे और कुछ दिनों के बाद वे कोमल नारियल के पानी पर ही रहे जो एक भक्त नियमित रूप से दिल्ली से भेजा करता था। बाबाजी की शारीरिक लीला के अन्त के समय कभी-कभी बाबाजी के मुँह से लार निकल जाती थी। और वह लार कहीं दाड़ी-मूंछ साफ करते समय बाबाजी को तकलीफ न पहुंचाए, भक्त लोगों ने बाबाजी से प्रार्थना की वे दाड़ी-मूंछ की हजामत करवा लें ताकि उनकी सेवा करते समय उन्हें कष्ट न हो। बाबाजी मान गये। बाबाजी सदैव कोमल थे। यह मैंने स्वयं भी अनुभव किया था जब भी सौभाग्य से मुझे उनके चरणों को पलोटने का अवसर मिला। अब अत्यधिक दुर्बलता तथा कोमलता के कारण उनका सिर नानीजी की गोद में रख कर उनका क्षौर कर्म (shave) किया गया।

अपना शारीरिक रूप त्यागने से पहले दो-तीन सप्ताह तक बाबाजी ने नारियल का पानी पिया। बाद में उन्होंने नारियल का पानी भी पीना छोड़ दिया और वे केवल गंगा जल पर ही रहे। बाबाजी के स्वास्थ्य को लेकर भक्त लोग बहुत ही चिन्तित तथा दुःखी थे और वे अपने-अपने ढंग से उनकी सहायता करना चाहते थे। जो वे चाहते थे बाबाजी ने दया भाव से उनको वैसा करने दिया। इस स्थिति में कुछ भक्तों ने बाबाजी को आयुर्वैदिक औषधियां तथा उपचार के साथ-साथ अंग्रेजी दवाइयां भी खिलायी और एक दिन तो एक भक्त ने उन्हें गुलुकोस की ड्रिप ही लगा दी। दूसरे भक्त ने डॉक्टर को बुला लिया जिसने बाबाजी की जाँच की और कहा कि उनके पेट में एक गाँठ है जो ट्यूमर हो सकती है या फिर खाने तथा पीने के अभाव में आँतो की उलझन हो सकती है। जाँच करने के बाद डॉक्टर ने कहा कि बाबाजी का शरीर संभवतः 72 घण्टों तक ही रह पाये।

जिस दिन बाबाजी ने महासमाधि ली उस दिन दोपहर के बाद उन्होंने किसी से कहा कि वह उनकी मदद करे ताकि वे उठकर बैठ सके। जब वे बैठे हुए थे तब उन्होंने आश्चर्यजनक ढंग से एक नौली नाम की हठयोग क्रिया की। बाद में उसी दिन सायंकाल नानी मां से कुटिया में कहा कि बाहर दो वैष्णव महात्मा आए हुए हैं। उनके लिये ढंग से खिलाने-पिलाने तथा सोने की व्यवस्था करने के लिये नानी मां को निर्देश दिया। इन्हीं दो महात्माओं ने आने वाले दिनों में शोकग्रस्त भक्त लोगों का बहुत ही व्यवस्थित ढंग से ध्यान रखा। बाबाजी के भौतिक जीवन के अन्तिम दिन भक्त लोग बाबाजी के चारों ओर बैठ गये। भगवान् के नाम का कीर्तन करते हुए बाबाजी के दिव्य दर्शन से अपने नेत्र तथा हृदय को तृप्त कर रहे थे। उस समय यह विचार भी उनके मन में उठ रहा था कि संभवतः सौभाग्य से उनके दर्शन का यह उनके लिये अन्तिम अवसर हो। बाबाजी के निर्देश के अनुसार बाबाजी को कुटिया के बाहर ले जाया गया और कुटिया के द्वार के सामने उनको लिटा दिया गया। कुछ भक्तों के अनुरोध पर नानी मां रुद्राक्ष तथा तुलसी की मालाओं को लाने के लिये कोठी की ओर दौड़ कर गयीं। उन्होंने मालाएं लाकर बाबाजी के गले में पहना दीं।

बाबाजी का श्वास धीमा हो गया। योगिनी एकादशी को दोपहर बाद चार बजे बाबाजी ने श्वास लिया परन्तु श्वास को बाहर नहीं निकाला। उपनिषदों में यह कहा गया है कि मुक्त पुरुष के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। ब्रह्म होकर वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह ब्रह्म के साथ तादात्म्य को प्राप्त कर लेता है और प्राण यहीं लीन हो जाते हैं।

बाबाजी का शरीर कंकाल के समान लग रहा था परन्तु अब भी वह अपनी स्वाभाविक प्रभा से भासित हो रहा था। एक देवदार की लकड़ी का सिंहासन था जो गत वर्ष की मानसून में गंगाजी की बाढ़ में पर्वतों से बह कर आए हुए एक बड़े वृक्ष से प्रेमजी के द्वारा बनवाया गया था। बाबाजी के शरीर को इस सिंहासन पर बैठाया गया। इस स्थिति में समाधि पर बाबाजी की पूजा की गई। आस-पास के आश्रमों, गांवों, तथा क़सबों से सारी रात लोग बाबाजी के अन्तिम दर्शन के लिये आते रहे। अगली सुबह बाबाजी को धर्मशाला में लाया गया जहां वे प्रतिदिन भक्तों के बीच बैठे रहा करते थे। यहां पर भी पुनः पूजा की गई। तब सिंहासन को गुफा ले जाया गया और चबूतरे पर स्थापित कर दिया गया। पुनः पूजा के पश्चात् सबने एक-एक करके बाबाजी को अन्तिम प्रणाम किया। पुरुष भक्तों ने बाबाजी के शरीर को गंगाजी में स्नान कराया और फिर 1986 की वर्षा ऋतु में गंगाजी की बाढ़ में बह कर आए हुए उसी देवदार वृक्ष से काटे हुए स्लीपरों की लकड़ी से बने हुए बॉक्स में रखे हुए पाषाण खण्डों पर बाबाजी के शरीर को स्थापित कर दिया।

उचित ढंग से पूजा करने के पश्चात् बॉक्स को नाव से आश्रम के ठीक सामने गंगाजी के प्रवाह के मध्य में ले जाया गया। प्रत्येक व्यक्ति बॉक्स को टकटकी लगाकर देख रहा था जो पूजा के लिये समर्पित पुष्पों तथा वस्त्रों से भरा हुआ था। अन्त में जब बॉक्स को 'बाबाजी महाराज की जय' घोष के मध्य गंगाजी में निमज्जित कर दिया गया तब बॉक्स के ओझल हो जाने पर एक फूलों की माला गंगाजी में तैरती दिखाई दी। उस अन्तिम प्रसाद को प्राप्त करने के लिये दो भक्त नाव से गंगाजी में कूद पड़े। स्थानीय आश्रमों के द्वारा भेजी गई भक्तों

से भरी हुई तीन नावों ने भक्तिपूर्वक निमज्जन स्थान की परिक्रमा करके बाबाजी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि दी।

निमज्जन क्रिया के बाद हनुमान् शिला क्षेत्र शोक की चादर में ढका हुआ प्रतीत हो रहा था। शान्तिपूर्वक सबने गंगाजी में स्नान किया। स्नान करते हुए उनके आंसू गंगाजी के पवित्र जल में गिर रहे थे। गुफा से आती हुई 'बाबाजी, बाबाजी' की ध्वनि सुनाई दे रही थी जहां पर एक भक्त युवति सुबक-सुबक कर रो रही थी जो मानो गंगा नदी से धीरे-धीरे जाते हुए भक्तों की शोकरंजित भक्तिभावनाओं का प्रतिनिधित्व कर रही हो।

वह स्थान जो बाबाजी की पावन उपस्थिति से संस्कृत था, अब सूना लग रहा था। गायें भी खाने में रुचि लेती हुई प्रतीत नहीं हो रही थीं। एक रक्त वर्ण की सुन्दर गाय जिसका बाबाजी ने 'गीता' नाम रखा था कई दिनों तक आंसू बहाती हुई गुफा के प्रवेशद्वार पर बैठी रही। भक्त लोग शोक से ऊपर उठकर यह अनुभव कर सकें कि वहां गंगातटवर्ती गुफा में तथा उनके हृदयरूपी गुफा में बाबाजी सतत विद्यमान है - ऐसा होने में पर्याप्त समय बीत गया।

बाबाजी के जीवन की कुछ घटनाएं

मैंने बाबाजी को अद्वैत की मूर्ति के रूप में देखा। जिस स्थान पर बाबाजी ने अपने जीवन का अन्तिम समय व्यतीत किया उसका परिवेश शान्ति तथा आध्यात्मिकता से अनुप्राणित था। अब मैं बाबाजी के जीवन की कुछ घटनाएं प्रस्तुत करना चाहूंगा ताकि पाठक को बाबाजी की आध्यात्मिक प्रभा की झलक मिल सके। बाबाजी के जीवन की इन घटनाओं का विवरण नानी मां ने तैयार किया है। इसका पहला विवरण इस प्रकार है:

बाबाजी के आश्रम में चारा खाने के लिये बहुत सी गायें आती थीं। उनमें से कुछ स्थानीय ग्रामवासियों की होती थीं और कुछ आस-पास के आश्रमों की तथा कुछ भूली-भटकी होती थीं। गायों का आश्रम में जन्म देना असामान्य बात नहीं थी। विशेषतः यह घटना सर्दियों में होती थी जब गायें धूप में लेटती थीं और जब कभी-कभी पूरी गर्भवती

होने के कारण अपने घर लौट पाने में समर्थ नहीं होती थीं। जब ऐसा होता था तब भक्त लोग जन्म देने की प्रक्रिया में गायों की सहायता करते थे और गाय के मालिक के पास संदेश भेज देते थे कि वह गाय तथा नवजात बछड़े को ले जाये।

एक बार सर्दी के दिनों में एक अधेड़ गर्भवती बीमार सी गाय बाबाजी के आश्रम से धीरे-धीरे ऊपर की ओर चलकर बाबाजी के भक्तों के घर के बाग में घुस गई। जैसे ही वह गाय प्रसव की अवस्था में पहुंची तभी बाबाजी के भक्तों ने सहायता की परन्तु जैसे ही उस गाय ने एक छोटी सी बछिया को जन्म दिया वह अपना शरीर छोड़ कर चल बसी। जब यह घटना बाबाजी को सुनाई गई तब उन्होंने नानी को कहा कि वह उस रात नवजात बछिया की देखभाल करे। बछिया सारी रात दुःख के कारण आर्त-स्वर करती रही जबकि नानी उस नवजात बछिया को गर्म रखने का प्रयत्न करती रही तथा बोतल से उसको दूध पिलाती रही। प्रातःकाल नानी उस छोटी सी बछिया को बाबाजी के पास कुटिया में ले गई। वहां बाबाजी ने उस बछिया की सेवा-शुश्रूषा की तथा बोतल से दूध पीने को दिया। बाबाजी अपनी उंगलियां दूध में डुबो देते थे और वह छोटी सी बछिया बाबाजी की उंगलियों को चाटती तथा अपने मुंह के ऊपर के हिस्से से खेलती थी। अपना अद्वितीय दयाभाव दिखाते हुए दिन में उस बछिया की सेवा-शुश्रूषा करते थे तथा रात को सोने के लिये नानी के पास भेज देते थे। बाबाजी प्रेमपूर्वक उसको छोटी बहिन कहते थे।

जैसे छोटी बहिन बड़ी हुई वह स्वस्थ हो गई। बाबाजी के प्रति उसका अत्यन्त अनुराग था। जब नानी उसको नीचे गुफा में ले आती थी, तब वह मिट्टी के बने हुए चबूतरे को भाग कर पार करके कूद कर बाबाजी की गोद में बैठ जाती। बाबाजी सदैव छोटी बहिन का प्रेमपूर्वक स्वागत करते थे, तब भी जब वह बड़ी हो गई तथा जब प्रातःकाल गुफा में कूद कर बाबाजी की गोद में बैठना उतना आसान नहीं था जितना कि जब वह छोटी थी। जब बाबाजी आश्रम में घूमते थे तब वह छोटी बहिन बाबाजी के पीछे-पीछे जाती थी और प्रसन्नता से बाबाजी के चारों ओर नाचती थी।

दोपहर के बाद जब बाबाजी मठ जाते थे तब छोटी बहिन भी उनके पीछे वहां जाती थी। उनके पास ही वहां खेलती थी या धूप में सो जाती थी। गर्मियों में एक दिन जब बाबाजी भक्तों के साथ मठ में बैठे हुए थे गंगाजी में जल का स्तर बढ़ा हुआ था। मठ से आश्रम की ओर वापिस आने के लिये भक्त लोगों ने मठ तथा आश्रम के बीच बहने वाले गंगाजी के बढ़े हुए पानी पर दो चट्टानों के बीच एक तख्ता रख दिया था। बाबाजी के मनुष्य भक्त तख्ते को पार करके आश्रम की ओर आ जाते थे। बाबाजी ने भी तख्ते को पार कर लिया। बहिन ने बाबाजी के पीछे आने का प्रयत्न किया परन्तु वह तख्ता बहुत छोटा था। जब छोटी बहिन ने देखा कि बाबाजी दूसरी ओर पहुंच गये हैं और वह मठ पर ही है तो वह बहुत व्याकुल हो गई। बाबाजी के पीछे आने के लिये उसने तख्ते को पार करना चाहा परन्तु तख्ते के छोटे होने के कारण वह ऐसा नहीं कर पायी। इससे पहले कि कोई उसे रोक पाये वह गंगा की धारा में कूद गई और बाबाजी की ओर तैर कर आने की कोशिश करने लगी परन्तु बहाव तेज था और वह बह कर गंगा के मुख्य प्रवाह की ओर जाने लगी। ऐसा देखकर बाबाजी चट्टानों पर दौड़े और 'बहिन' नाम पुकारा। बाबाजी पैदल पानी में बहिन की ओर बढ़ने लगे। बाबाजी की आवाज़ सुनकर बहिन में उत्साह आ गया और वह बाबाजी की ओर तैरने लगी जब तक वे दोनों एक-दूसरे से प्रेम भरे आलिङ्गन में मिल नहीं गये। वे दोनों अत्यन्त प्रसन्न अवस्था में साथ-साथ पानी से बाहर आये। यह घटना बाबाजी के बहिन के प्रति अनन्य स्नेह को दर्शाती है तथा इस तथ्य पर भी प्रकाश डालती है कि ब्रह्मभाव को प्राप्त व्यक्ति समस्त जीवों को एक परम सत्य की अभिव्यक्ति मानते हैं।

नानी मां एक दूसरे विवरण में इस स्थान की दिव्यता का वर्णन करती हैं। इस स्थान की दिव्यता की सूचना इस तथ्य से प्राप्त होती है कि यहां विभिन्न जीवात्माएं पशुरूप में विद्यमान थीं। जिनके जीवन में असावधानी के कारण कुछ नियम का उल्लंघन हो गया है ऐसी श्रेष्ठ जीवात्माएं साक्षात्कार तथा ज्ञान सम्पन्न सन्तों के निकट आ जाती हैं जैसा कि महर्षि रमन के सम्बन्ध में भी घटित हुआ था।

पहले जब नानी मां बाबाजी के पास आई थी तब वहां एक कुतिया थी। एक आंख होने के कारण जिसका नाम 'कानी' रख दिया गया था। वह बाबाजी को बहुत प्रेम करती थी। जहां भी बाबाजी आश्रम में घूमने जाते थे वह पीछे-पीछे जाती थी और उनके साथ घूमती थी। कभी-कभी उनके साथ खेलती भी थी। कानी दूसरे कुत्तों से बहुत भिन्न थी। ऐसा लगता था कि उसे यह पता था कि उसके लिये क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं। उसने कभी भी किसी को आश्रम में किसी भी प्रकार से नहीं सताया। जब बाबाजी सैर से आकर धर्मशाला में प्रवेश करते थे तब कानी धर्मशाला की सीढ़ियों के एक ओर चुपचाप लेट जाती थी और कभी भी ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं करती थी कि कोई उसे वहां से भगाए। बाबाजी के बाहर आने की वह धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करती थी और जब बाबाजी बाहर आ जाते तो फिर प्रसन्नतापूर्वक उनके पीछे-पीछे दौड़ती थी।

कानी के विषय में एक दूसरी आश्चर्यजनक बात यह थी वह सदैव एकादशी का व्रत रखती थी। एकादशी के दिन वह केवल फलाहार करती थी, सामान्य अनाज नहीं जो दूसरे दिनों पर खाने के लिये परोसा जाता था। यदि उस दिन कोई उसे फलाहार खिलाता था तो वह खा लेती थी। यदि कोई उसे सामान्य रोटी या चावल देता था तो वह उसे सूंघ कर वहीं छोड़ देती थी।

एक दिन कानी गायब हो गई और उसके बाद कभी दिखाई नहीं दी। बाबाजी ने कहा वह कहीं चुपचाप शान्ति से प्राण त्यागने के लिये चली गई ताकि किसी को किसी प्रकार की असुविधा न हो। उन्होंने कहा कभी-कभी भक्तों को पूर्व जीवन में की हुई किसी गलती के कारण पशु-शरीर में जन्म लेना पड़ता है और वे किसी आश्रम अथवा सन्तों की संगति में रहते हैं ताकि अच्छे संस्कार उनमें बने रहे तथा वे मानव शरीर मिलने पर अपनी साधना को जारी रख सके।

यहां नानी मां के द्वारा वर्णित दो घटनाएं हैं जिनसे हमें यह ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति बाबाजी के पास आते थे तथा आध्यात्मिक प्रश्न पूछते थे बाबाजी उनके प्रश्नों का उत्तर देकर किस प्रकार से उनका मार्गदर्शन करते थे।

1. एक दिन जब मैं बाबाजी के पास धर्मशाला में बैठी थी तब अतिसामान्य वेष-भूषा में एक व्यक्ति आया और वहां शान्तिपूर्वक बैठ गया। थोड़ी देर के बाद उसने बाबाजी से प्रश्न किया। उसने पूछा "धर्मग्रन्थों में यह कहा गया है कि हमें अपना मन तथा बुद्धि भगवान् को समर्पित कर देनी चाहिये। यदि हम अपने मन तथा बुद्धि का उपयोग न करें तो क्या हम पागल नहीं समझे जायेंगे?" बाबाजी ने धीरे से उत्तर दिया "नहीं, यदि हम अपने मन तथा बुद्धि का समर्पण कर देंगे तो हम स्वस्थ हो जायेंगे (अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो जायेंगे)। जो लोग मन तथा बुद्धि का समर्पण नहीं करते हैं, वे पागल हैं।" वह व्यक्ति थोड़ी देर तक शान्तिपूर्वक बैठा रहा और फिर बाबाजी को प्रणाम करके चला गया।

मुझे प्रश्नों तथा उनके उत्तरों में बहुत रुचि थी। बाद में बाबाजी के साथ बालू पर घूमते हुए मैंने उनसे पूछा, "बाबाजी यह कैसे संभव है कि व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से मन तथा बुद्धि का समर्पण कर दे?" बाबाजी ने उत्तर दिया, "इनको भगवान् के प्रति समर्पण किया जा सकता है और अध्यात्म मार्ग के गन्तव्य तक पहुंचने के लिये इनको अवश्य ही भगवान् को समर्पित कर देना चाहिये और सम्पूर्ण रूप से भगवान् की शरण में रह कर हमें अपना जीवन यापन करना चाहिये। हमें तब तक इसका शनैः-शनैः अभ्यास करना चाहिये जब तक कि हम भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण भाव को प्राप्त न कर लें।"

2. एक दिन मैं बाबाजी के पास मठ में बैठी हुई थी। विदेशी लोगों का एक बड़ा समुदाय वहां आया। उन्होंने बाबाजी से अनेक प्रश्न किये जिनका अनुवाद करके मैंने बाबाजी को बताया और जो उत्तर बाबाजी ने दिये उनका भी अनुवाद करके मैंने विदेशी लोगों को बताया। अधिकतर प्रश्न अच्छे थे और बहुत देर तक बाबाजी ने स्पष्ट रूप से उन सबका उत्तर दिया। तब बाबाजी अचानक मेरी ओर मुड़े और कहा, "ये सब बाबाजी को एक उत्तर देने वाली मशीन समझते हैं। यदि ये बाबाजी के उत्तर ध्यान से सुनते और एक भी उत्तर को अच्छी तरह समझ कर अपने जीवन में उतार लेते तो इन्हें और प्रश्न पूछने की आवश्यकता नहीं रहती।" बाबाजी के इस कथन ने मुझे यह

स्पष्ट कर दिया कि बाबाजी के द्वारा दिया गया प्रश्नों का प्रत्येक उत्तर अमूल्य था और साथ ही बाबाजी के स्पष्टीकरण का यह अभिप्राय था कि शास्त्रों का प्रत्येक उपदेश जीवन में उतारने के लिये है, न कि उसका ज्ञान केवल संचय करने के लिये है।

नानी मां ने एक और घटना वैबसाइट पर अपलोड करने के लिये लिखी। उससे बाबाजी की एक ऐसी अत्यन्त गहन दार्शनिक तथा उच्च आध्यात्मिक अवस्था का ज्ञान होता है जिसमें बाबाजी सदैव अवस्थित रहते थे। यद्यपि वे हमेशा अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते थे तथापि वे व्यावहारिक स्तर के नियमों के प्रति भी सजग रहते थे। उन्होंने नानी मां को बताया था कि व्यक्ति को हमेशा व्यावहारिक स्तर के सामाजिक नियमों का पालन करना चाहिये और साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि आपेक्षिक तथा पारमार्थिक वास्तविकताओं में भेद होता है।

नानी मां कहती है, "जब मैं पहली बार बाबाजी के पास आई थी तब बाबाजी इस बात के प्रति बहुत सावधान थे कि भारतीय परम्परा में जिन रीति-रिवाज़ तथा नियमों का पालन किया जाता है उन सबका ज्ञान मुझे हो।" बाबाजी के इस कृपापूर्ण निर्देश से मैंने ऐसा व्यवहार अपनाया कि बाबाजी के पास रहने वाले भक्तों के समुदाय में मैं आसानी से स्वीकार कर ली गई। पवित्रता के प्रायः सभी पारम्परिक नियमों का मैंने पालन किया और अपनी ओर से मैंने भारतीय पारम्परिक व्यवहार के सब तौर-तरीक़े सीखने में कोई कसर नहीं छोड़ी ताकि मैं साथ में रहने वाले भक्त जनों को किसी भी प्रकार की ठेस न पहुंचाऊं। जो भी शुद्धता के नियम मुझे सिखाये गये थे उन सभी नियमों का मैंने प्रायः पूर्ण रूप से पालन किया। इन सब नियमों में एक महत्त्वपूर्ण नियम यह भी था कि जब तक कहा न जाये तब तक मैं किसी भी वस्तु का स्पर्श न करूं।"

एक दिन जब मैं मठ में बाबाजी के साथ भ्रमण कर रही थी। बाबाजी ने गंगाजी में हाथ धोकर एक पवित्रता के नियम के विषय में इस प्रकार कहा कि मैं अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गई और मैंने कहा,

"बाबाजी वह तो अपवित्र है।" उन्होंने जो उत्तर दिया उससे मैं और भी अधिक अचम्भित हो गई। बाबाजी ने कहा, "कुछ भी अपवित्र नहीं है। प्रत्येक वस्तु सर्वव्यापक चैतन्य है। कोई भी वस्तु अपवित्र कैसे हो सकती है?" मैंने कहा, "लेकिन बाबाजी प्रत्येक व्यक्ति तो मुझे पवित्रता के सारे नियम सिखा रहा है और आपने भी मुझे उन नियमों का पालन करने के लिये प्रेरित किया"। बाबाजी ने कहा, "ठीक है, तुम्हें उनका पालन करना चाहिये। अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिये यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परन्तु तुम्हें इन सबको पारमार्थिक सत्य नहीं समझना चाहिये। ये सब व्यावहारिक रूप से सत्य हैं, पारमार्थिक रूप से नहीं। कुछ लोग उनसे ऊपर नहीं उठ पाते। पवित्र होने की दृष्टि से उन लोगों के लिये यह सब महत्त्वपूर्ण है। तुम्हें भी उन सबका पालन करना चाहिये परन्तु साथ ही साथ यह भी समझ लेना चाहिये कि ये सब पारमार्थिक रूप से सत्य नहीं हैं।"

बाबाजी आध्यात्मिक उन्नति के लिये जीवन में गुरु की आवश्यकता पर बल देते थे। नानी मां के द्वारा दिये गये अग्रिम विवरण से यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है कि गुरु का कितना महत्त्व है।

बाबाजी कहते थे गुरु के दो हाथ होते हैं, एक थप्पड़ लगाने के लिये और दूसरा सहारा देने के लिये। हमें सांसारिक अहंकार से दूर करने के लिये, बेहतर समझ तथा भगवान् की ओर ले जाने के लिये बाबाजी इन दोनों हाथों का उपयोग किया करते थे।

जब मैं बाबाजी के पास लगभग एक वर्ष रह चुकी थी तब एक परिवार उनसे मिलने आया। यह परिवार उस समय भी था जब मैं प्रारम्भ में बाबाजी के पास आई थी। वहां एक वर्ष रहने के कारण मुझे अत्यन्त गर्व का अनुभव होने लगा था और इसीलिये अपना महत्त्व प्रदर्शित करने के लिये मेरे अन्दर एक दुरभिलाषा उत्पन्न हुई।

मैंने सोचा कि मुझे एक सुनहरा अवसर मिल गया है जब सायंकाल एक साध्वी भक्त बाबाजी के लिये दूध का गिलास लेकर आई। दूध देने से पहले प्रायः वह बाबाजी को एक आयुर्वैदिक शक्तिवर्धक औषध च्यवन प्राश दिया करती थी। मैं च्यवन प्राश के डिब्बे के पास बैठी

थी तथा छोटी गुफा भक्त लोगों से भरी हुई थी। इसलिये उसने च्यवन प्राश का डिब्बा देने के लिये मुझसे कहा। प्रायः मैं ऐसा ही किया करती थी परन्तु ऐसा करने के बजाय मैंने शीघ्र डिब्बा खोला और उसमें से थोड़ा च्यवन प्राश निकाला और गंगा माई की तरह उसका गोला बना दिया जैसे गंगा माई को बनाते हुए मैंने देखा था। आगे झुक कर वह गोला मैंने खिलाने के लिये बाबाजी के मुंह के पास कर दिया। मुझे आशा थी कि वे मेरे हाथ से अवश्य खा लेंगे। लेकिन मेरे फैलाये हुए हाथ से खाने के लिये झुकने की बजाय बाबाजी पीछे हट गये और चेहरे पर अत्यधिक जुगुप्सा लिये हुए उन्होंने कहा, "क्या मुझे इसके हाथ से खाना चाहिये?" सबने एक स्वर में कहा, "बिल्कुल नहीं।" इसके साथ ही च्यवनप्राश का डिब्बा मेरे हाथ से ले लिया गया और मैं दुत्कारे हुए चिपचिपे च्यवन प्राश के गोले को अपने हाथ में लिये बैठी रही।

मैं गुस्से से आग-बबूला हो रही थी। जिस प्रभाव को दिखाने की मैं आशा कर रही थी वह तो दूर रहा। इसके स्थान पर मुझे यह महसूस हुआ कि बाबाजी ने सबके सामने मुझे जान-बूझ कर अपमानित किया। मेरे मन में प्रचण्ड क्रोध के साथ ऐसा विचार आ रहा था कि मेरे साथ इनको ऐसा करने की हिम्मत कैसे हुई? अपनी गलती के विषय में बिना सोचे समझे अवसर मिलने पर मैं गुफा से बाहर आ गई। मैं इतने गुस्से में थी कि मैं रात-भर सो नहीं पाई और मैंने यह निश्चय कर लिया कि अगले दिन मैं बाबाजी से बात ही नहीं करूंगी। प्रातःकाल ऊपर से मैं सबके साथ विनम्रतापूर्वक व्यवहार करने का प्रयत्न कर रही थी और साथ ही यह भी कोशिश कर रही थी कि बाबाजी को यह पता लगे कि मैं अत्यन्त क्रुद्ध हूं।

मेरा गुस्सा धीरे-धीरे दुःख का रूप ले रहा था और एक शिशु के समान जो अपनी माता के साथ प्रतिकूल होने का प्रयत्न करता है, मुझे बाबाजी का अभाव अनुभव होने लगा। मध्याह्न के भोजन के बाद बाबाजी मठ की ओर जाकर गंगा के किनारे बालू में बैठ गये। यद्यपि वहां कोई नहीं था फिर भी मैं बाबाजी से थोड़ी दूर बैठी यह दिखाने के

लिये कि मैं कितनी गुस्सा हूं? बाबाजी मेरी ओर बिना देखे शान्ति से बैठे रहे। यद्यपि मैं ऐसा दिखा रही थी कि मैं उनके पास नहीं बैठना चाहती हूं, तथापि मैं मन ही मन ऐसा चाह रही थी बाबाजी मुझे बुलाये लेकिन उन्होंने मुझे नहीं बुलाया।

कुछ समय पश्चात् एक आगन्तुक आया और बाबाजी के पास भेंट के रूप में एक थैला रखकर बैठ गया। थोड़ी देर बाबाजी से वार्तालाप करके चला गया। जब वह चला गया बाबाजी ने मुझे नम्रता से बुलाया "नानीजी"। मैं उनकी ओर दौड़ी और बैठ गयी। मेरी आँखों में आंसू थे। बाबाजी ने मुझसे पूछा, "थैले में क्या है?"। मैंने थैले में देखा और कहा, "संतरे बाबाजी"। बाबाजी ने अत्यन्त दयापूर्ण ढंग से मुझसे कहा, "एक संतरा छील कर मुझे खिलाओ"। मैं बोल उठी,"परन्तु आप तो मेरे हाथ से खाते ही नहीं"। मूर्खता से उत्पन्न दुःख के कारण मेरी आँखों से आंसू बह रहे थे। बाबाजी ने मुझे दयापूर्ण विशाल नेत्रों से मुझे देखा और कहा, "अहंभाव के साथ यदि कोई वस्तु मुझे समर्पित की जाये तो मैं वह नहीं खा सकता, यदि प्रेमपूर्वक दी जाये तो मैं खा सकता हूं।"

इस घटना से यह पता लगता है कि देह, मन आदि के साथ तादात्म्याध्यास के कारण हम अपने स्वाभाविक प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर व्यवहार करते हैं। हमें अच्छा लगता है जब हम अपनी प्रशंसा सुनते हैं और जब हमारी निन्दा तथा तिरस्कार होता है तब हम नाराज़ हो जाते हैं। हमारा मन दुर्बल हो जाता है और हम आध्यात्मिक प्रगति करने में असमर्थ हो जाते हैं। आध्यात्मिक प्रगति में हानिकारक प्रवृत्तियों का नियन्त्रण करने में हमारे गुरु ही हमारी सहायता करते हैं। अपने भक्त शिष्यों की दुर्बलताओं को समझने में बाबाजी समर्थ थे और उचित अवसर पर आध्यात्मिक मार्ग में रुकावट डालने वाली प्रवृत्तियों से मुक्त करने में उनकी सहायता करते थे। नानी मां के द्वारा बताई हुई घटना के द्वारा यह तथ्य बहुत ही अच्छे ढंग से बोधगम्य बना दिया गया है।

वास्तव में गुरु के बिना व्यक्ति अपनी कमियों तथा दोषों की पहचान करने में असमर्थ होता है। अपनी कमियों तथा दोषों को न पहचानने

के कारण उनके ऊपर काबू पाने में वह समर्थ नहीं हो पाता। नानी मां के द्वारा दिया गया अग्रिम विवरण बाबाजी की आध्यात्मिक अवस्था को बताता है जिससे यह ज्ञात होता है कि बाबाजी मन से ऊपर उठे हुए हैं अथवा यह कहा जा सकता है कि वे सदा अमनीभाव की स्थिति में रहते हैं जिसका अत्यन्त स्पष्ट विवेचन माण्डूक्यकारिका के अद्वैत प्रकरण में किया गया है।

एक बार अमेरिका का एक नागरिक धर्मशाला में आया और मुझसे पूछा कि क्या मैं उसके लिये अनुवाद कर दूंगी? चारों ओर देखकर और कुछ प्रश्न पूछ कर अमेरिकन ने मुझसे निवेदन किया कि मैं बाबाजी से पूछूं कि उसके बारे में बाबाजी क्या सोचते हैं? मैंने बाबाजी के सामने प्रश्नों का अनुवाद कर दिया और उत्तर की प्रतीक्षा की। बहुत दीर्घ तथा शान्तिपूर्ण अन्तराल था। बाबाजी भावपूर्ण मनोहर ढंग से एक चट्टान के सहारे झुके हुए दूर आकाश में देख रहे थे। कुछ समय पश्चात् अमेरिकन व्याकुल हो गया और मुझसे कहा कि मैं बाबाजी से पूछूं कि वे उसके बारे में क्या सोचते है? मैंने जब बाबाजी से यह पूछा तो उन्होंने अपना प्रभावोत्पादक मनोहर वदन मेरी ओर किया और अपने विशाल गम्भीर नेत्रों से मुझे देख कर कहा, "बाबाजी कुछ नहीं सोचते।"

अमेरिकन ने बाबाजी के इस उत्तर को अपने प्रश्नों का उत्तर समझा। लेकिन मेरे विचार से बाबाजी के मन में कोई वृत्ति ही नहीं थी या यह कहा जा सकता है कि वे अमनीभाव की अवस्था में जी रहे थे। मेरी कितनी अभिलाषा थी कि मुझे वह स्थिति प्राप्त हो जाये। बाबाजी के उपदेश सौम्यतापूर्ण तथा व्याख्यात्मक होते थे परन्तु पहले पहल जब हम समझने में असफल हो जाते हैं तब उनके उपदेशात्मक वचन संक्षिप्त तथा सूत्रात्मक होकर बुद्धिगम्य हो जाते थे।

नानी मां के द्वारा बताई गई अग्रिम कहानी इन दो प्रकार के उपदेशों के दृष्टान्त के रूप में समझनी चाहिये।

एक दिन जब मैं बाबाजी के पास गुफा में बैठी थी तब मैंने आश्रम में रहने वाली एक अन्य स्त्री भक्त के विषय में शिकायत करनी प्रारम्भ

कर दी। उस स्त्री के पति उसके जीवन का निर्वहन करने में उसकी सहायता नहीं करते थे। इसलिये वह कभी-कभी अभीष्ट भौतिक सामग्रियों की कमी महसूस करती थी। इन परिस्थितियों में वह महिला अपने भक्त साथियों से उन वस्तुओं को मांग लेती थी जिनकी उसको आवश्यकता होती थी। उसकी इस अवस्था पर दया करने के स्थान पर मैंने अपने मन में यह सोच लिया कि मैं बाबाजी से उसकी शिकायत करूंगी।

बाबाजी ने करुणापूर्वक मुझे समझाया कि उस महिला ने बाबाजी के यहां शरण ली है। इसलिये उसकी आलोचना नहीं करनी चाहिये। वह अपनी अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये दूसरे अवाञ्छनीय रास्ते भी अपना सकती थी। वह उन वस्तुओं की चोरी कर सकती थी या उनको प्राप्त करने के लिये अभद्र पुरुषों के पास भी जा सकती थी। लेकिन ऐसा करने के बजाय वह बाबाजी के पास आयी। इसलिये वह सम्मान की पात्र है, उसका सम्मान किया जाना चाहिये। उन्होंने मुझे समझाने के लिये श्रीमद्भगवद्गीता के सांतवें अध्याय के 16वें तथा 18वें श्लोकों को उद्धृत किया।

चतुर्विधा भजन्ति मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।

ये दोनों श्लोक चार प्रकार के मनुष्यों का वर्णन करते हैं जो भगवान् की शरण में आते हैं, दुःखी, सांसारिक वस्तुओं के इच्छुक, जिज्ञासु तथा ज्ञानी। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये चारों ही उत्कृष्ट तथा उदात्त मनुष्य हैं क्योंकि इन चारों प्रकार के लोगों ने भगवान् की शरण ली है। ईर्ष्या के कारण मेरे मन में उस स्त्री के प्रति शिकायत की भावना थी। इस प्रकार की स्थिति में बाबाजी ने मुझे भगवान् के कथन का तात्पर्य समझाया और कहा कि मुझे भी भगवान् के द्वारा बताये गये इस तात्पर्य को ध्यान में रख कर ही दूसरे लोगों के द्वारा किये गये व्यवहार का आकलन करना चाहिये।

फिर भी अपनी मूर्खता के कारण बाद में मैंने फिर वही विषय बाबाजी के सामने उठाया और उस महिला की शिकायत करने लगी। मैंने कहा, "बाबाजी वह सदैव लोगों से चीज़े मांगती रहती है। वह यहां केवल सांसारिक पदार्थों के लिये आई है, आध्यात्मिकता के लिये नहीं।" "अच्छा" बाबाजी ने कहा, "क्या उसे वे चीज़ें मिल जाती हैं जिनके लिये वह आयी है?" "हां" मैंने शीघ्रता से उत्तर दिया, "लोग हमेशा उसे चीज़ें देते रहते हैं।" बाबाजी ने सहज ढंग से मन को झकझोर देने वाला तथा कभी न भूलने वाला ऐसा मार्मिक प्रश्न पूछा, "क्या तुम्हें वह प्राप्त हो गया है जिसके लिये तुम यहां आई हो?"

बाबाजी यह बात जानते थे कि हम दूसरे लोगों की समस्याओं, विवशताओं आदि को समझते नहीं हैं। न ही यह समझ पाते हैं कि वे एक विशेष प्रकार से व्यवहार क्यों करते हैं और हम उनके व्यवहार को स्वीकार क्यों नहीं कर पाते हैं? जो घटना नानी मां ने यहां बताई है वह उनके नैतिक साहस को दर्शाती है क्योंकि उन्होंने यहां अपनी दुर्बलता को प्रकट किया है ताकि हमें भी यह बोध हो जाये कि हमें भी दूसरों की विवशता को विवेकपूर्वक उदार हृदय से समझना चाहिये। फिर भी उनका मुख्य उद्देश्य यह है कि बाबाजी कितनी कुशलता से स्नेहपूर्वक इस प्रकार का अनुचित व्यवहार करने वालों को उनकी ग़लती समझा देते थे। यह घटना इस प्रकार की आवश्यकता को भी दर्शाती है कि हमें आत्मनिरीक्षण तथा मनन का अभ्यास करना चाहिये ताकि हम अपनी मानसिक दुर्बलताओं को जानकर उनसे मुक्त होने का प्रयास करते हुए आध्यात्मिक मार्ग पर चलते रहें।

इस प्रसंग में मुझे पातञ्जलयोगदर्शन के एक सूत्र का ध्यान आ रहा है - मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम् (योगसूत्र, 1.33)। यह सूत्र बताता है कि सुखी व्यक्तियों के प्रति हमें मैत्री भाव रखना चाहिये, दुःखियों के प्रति करुणा का भाव, पुण्यशील व्यक्तियों के प्रति आनन्दपूर्णभाव (मुदितावृत्ति) तथा दुष्टों के प्रति उदासीनता का भाव रखना चाहिये। इस प्रकार के सतत अभ्यास से हमारा चित्त निर्मल तथा शान्त हो जाता है। दुःखियों के प्रति करुणा - सूत्र में निर्दिष्ट यह दूसरा बिन्दु

नानी मां के द्वारा वर्णित घटना के साथ सम्बन्ध रखता है। यदि हम इस सूत्र में दिये हुए इस दूसरे बिन्दु को ध्यान में रखेंगे तो हम दूसरों की समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक समझने में समर्थ हो जायेंगे। नानी मां के द्वारा बताई गई अगली घटना साक्षात्कारसम्पन्न व्यक्ति की सिद्धियों (अलौकिक शक्तियों) पर प्रकाश डालती है। इन सिद्धियों का प्रयोग सिद्ध पुरुष उन विशेष अवसरों पर करते हैं जिनको वे उचित तथा उपयुक्त समझते हैं। ये सिद्धियां आत्मसाक्षात्कार का प्रतिफलन (byproduct) हैं।

एक दिन मैं मठ पर बाबाजी के साथ बैठी थी। उस दिन गर्मी बहुत थी। जिस गुफा में मैं साधना करती थी उसके समीप एक प्रस्तर-खण्ड पर आती हुई थोड़ी सी छाया में मैं बैठी हुई थी। बाबाजी अत्यन्त उदारता तथा कृपापूर्वक मेरे साधना सम्बन्धी कुछ प्रश्नों का समाधान कर रहे थे। तभी चार-पांच व्यक्ति हमारी ओर आए। वे गरीब थे। उनके पहनावे से ऐसा लग रहा था कि वे जीविका अर्जन करने के लिये भारी सामान और वज़नदार चीज़ों को उठाने वाले मज़दूर हैं। जिस शिला-खण्ड पर मैं और बाबाजी बैठे थे उस पर और स्थान नहीं था अथवा संभवतः सम्मान दिखाने के लिये वे लोग पालथी मार कर बालू पर नीचे ही बैठ गये। वे बिना हिले-डुले चुपचाप बैठे रहे यद्यपि धधकता हुआ सूर्य असह्य रूप से गर्म था और बालू इतनी गर्म थी कि तलवों को झुलसा दे। कुछ क्षणों पश्चात् बाबाजी ने विनम्रतापूर्वक उनसे पूछा के वे कहां से आए थे और वे क्या चाहते थे? उनमें से एक व्यक्ति ने दोनों हाथों को जोड़कर माथे पर रखकर कहा, "महाराज आप जानते हैं।"

कुछ क्षणों के बाद बाबाजी की एक साध्वी भक्त गंगा माई वहां दौड़ती हुई आई। भागने के कारण उसकी सांसें फूल रही थीं। वह वहां आए हुए उन व्यक्तियों पर चिल्लाई, "इसे यहां से हटाओ।" बाबाजी ने शान्तिपूर्ण ढंग से उससे पूछा कि वह क्या कह रही है? उसने उत्तेजित स्वर में उत्तर दिया कि वे यहां आश्रम में एक मुर्दा ले आये हैं और मठ के रास्ते पर उसे लिटा दिया है। फिर वह ज़मीन पर बैठे उन लोगों की ओर मुड़कर बोली कि तुरन्त ही वे उस शव

को वहां से हटा लें। वे लोग टस से मस नहीं हुए और विनीत भाव से बाबाजी की ओर टकटकी लगाए देखते रहे। बाबाजी छाया से उठकर गंगा तट पर आए और वे लोग शान्तिपूर्वक उनके पीछे-पीछे चलते रहे। गंगा माई तथा मैं बाबाजी के साथ मठ के तट को पार करके उस संकरे रास्ते पर आ गये जो हनुमान् शिला के सामने था तथा उस छोटे लकड़ी के तख्ते की ओर जा रहा था जो आश्रम के मुख्य भाग की ओर जाने के लिये एक पुल का काम करता था। रास्ते में सामान्य बांस की अर्थी पर एक निश्चल जवान औरत पड़ी हुई थी। वह बिल्कुल मुर्दा जैसी लग रही थी। जैसे बाबाजी उसके पास आए, वे रुके तथा उन्होंने उस औरत को दयापूर्ण दृष्टि से देखा। तब उनमें से एक मज़दूर ने कहा, "महाराज, उसके छोटे-छोटे बच्चे हैं।"

जब हम खड़े हुए उसे देख रहे थे तब एक विचित्र घटना घटी। अचानक एक गाय दिखाई दी, वहां पर आई तथा बाबाजी और उस मृतप्राय औरत के बीच में खड़ी हो गई। यद्यपि बाबाजी के आश्रम में अनेक गायें थीं तथापि यह असामान्य बात थी कि गायें उस मठ की ओर जाने वाले रास्ते पर आएं। सामान्य रूप से तो गायें कभी मठ की ओर जाती ही नहीं थीं। उस रास्ते पर चलकर वहां जाने की तो कोई संभावना ही नहीं थी। खैर, एक गाय मठ के समीप गंगा तट की ओर जाती हुई दिखाई दी और वह बाबाजी तथा उस महिला के बीच में खड़ी हो गई। बाबाजी ने उसकी पूंछ पकड़ी और सिर से पैर तक उस औरत के शरीर के ऊपर घुमाया। गाय चली गई और उस औरत को अपनी अर्थी पर उठ कर बैठते देख कर हम सब को अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

ऐसे दिखाई दे रही थी मानो वह नींद से अभी-अभी उठी हो। उसने इधर-उधर देखकर कहा, "मैं भूखी हूं।" वे लोग अपने घुटनों के बल बैठकर बाबाजी को प्रणाम करते हुए खुशी के मारे रो रहे थे। गंगा माई और मैं हक्के बक्के उस दृश्य को देख रहे थे। बाबाजी हमेशा की तरह शान्त थे। उन्होंने गंगा माई से कहा, "तुमने सुना नहीं, वह कह रही है, "मैं भूखी हूं"। उसके खाने के लिये कुछ लेकर आओ।" बाबाजी वहीं खड़े रहे और गंगा माई जल्दी से धर्मशाला गई और उसके लिये

कुछ पूरियां ले आई। उस युवा औरत ने भूखे व्यक्ति के समान उन पूरियों को खा लिया।

जब वह औरत खा रही थी, तब बाबाजी उस पुल की ओर जाने लगे। उन लोगों ने बाबाजी को बार-बार प्रणाम किया और पूछा कि वे उस ऋण को कैसे चुकाएं? बाबाजी ने उत्तर में कहा, "यह गोमाता तथा हनुमान् जी कृपा है। (हम हनुमान् शिला के नीचे खड़े हुए थे)। यह महिला हनुमान् जी तथा गोमाता के लिये कल रोटा बना कर लाये।" साथ ही उनको सचेत कर दिया कि इस घटना के बारे में किसी को कुछ न कहें।

वह जवान औरत उठी और खाली अर्थी को ले जाते हुए उन लोगों के साथ चल दी। उनके जाने के एकदम बाद बहुत से लोग आश्रम में आए और उस चमत्कार की बातें करने लगे जो अभी-अभी घटा था। परन्तु बाबाजी इस सबके प्रति उदासीन थे तथा उन्होंने इसके विषय में कोई बात नहीं की।

अलौकिक सिद्धियां आत्मसाक्षात्कार की आनुषङ्गिक हैं अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होने पर ये सिद्धियां बिना प्रयास के स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। साक्षात्कारसम्पन्न व्यक्ति सही समय पर विवेकपूर्ण ढंग से इनका उपयोग करते हैं। बाबाजी की यह अचिन्तनीय लीला है। इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस घटना में बाबाजी सर्वथा निर्विकार थे। यह घटना यह दर्शाती है कि बाबाजी के मन में उन लोगों के प्रति असीम दया थी जो वास्तव में दुःख से पीड़ित थे लेकिन इससे एक स्पष्ट संदेश मिलता है कि हमारी उपलब्धियां तथा योग्यताएं हमें घमण्डी न बना दें।

बाबाजी के भक्त

1. श्रीसत्यनारायण अग्रवाल बाबा मस्तराम जी के बहुत बड़े भक्त थे। वे निम्बार्क मत के अनुयायी थे और श्रीकृष्ण तथा राधाजी उनके इष्ट थे जिनका दर्शन प्राप्त करने की उनकी उत्कट इच्छा थी। वे गृहस्थी थे परन्तु बाबाजी उनको 'बैरागी बाबा' कहते थे क्योंकि सांसारिक जीवन के प्रति उनका अनासक्ति का भाव था। भगवान् का

दर्शन प्राप्त करने की उनकी अत्यन्त तीव्र इच्छा थी और इसके लिये वे कठिन से कठिन साधना करने के लिये तैयार थे।

रामचरितमानस के 108 दिन में 108 पाठ करके एक दिन बाबाजी के सामने उन्होंने अपनी प्रार्थना प्रस्तुत की कि वे जीवित अवस्था में भगवान् के दर्शन करना चाहते हैं। बाबाजी ने उनसे कहा कि यह कठिन होगा और यदि वे भगवान् का दर्शन करना चाहते हैं तो सब कुछ समर्पण करने के लिये उनको तैयार रहना होगा। सत्यनारायण इसके लिये तैयार थे। बाबाजी के निर्देशानुसार उन्होंने यह व्रत ले लिया कि जब तक वे राधा और कृष्ण के दर्शन नहीं कर लेते तब तक वे केवल गंगा जल पर रहेंगे। संवत् 2025 में मार्गशीर्ष की शुक्ल पक्ष की पंचमी (24-11-1968) से उन्होंने अपना व्रत प्रारम्भ किया। गीता भवन से जो भोजन आता था दोपहर के बाद वह गायों को खिला दिया जाता था।

लगभग 20 दिन बाद बाबाजी ने उनके पुत्र सुदर्शन को यह कह दिया कि उनके पिताजी केवल गंगा जल पर रह रहे हैं। यह संभव है कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाये। वृद्ध होने के अतिरिक्त बैरागी बाबा दमे के रोग से भी पीड़ित थे। इसलिये केवल गंगा जल पर रहना उनके लिये एक बड़ी कठिन तपस्या थी। अपनी तपस्या के दौरान उन्होंने रामचरित मानस का बहुत बार पाठ किया। माघ मास के कृष्ण पक्ष की दसवीं तिथि (13-01-69) को जब सूर्य देवता ने मकर राशि में प्रवेश किया तब बाबा श्रीमस्तरामजी के विग्रह में उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन किये। वे पूरी तरह से संतुष्ट नहीं हुए और चिल्लाये, ''किशोरी जी कहां है?'' क्योंकि वे राधा तथा कृष्ण दोनों के दर्शन करना चाहते थे और इसके लिये उन्होंने गंगा जल भी त्याग दिया। अगले दिन एकादशी थी। उनको बाबाजी की गुफा में किशोरीजी तथा भगवान् श्रीकृष्ण दोनों के दर्शन हुए। इसके पश्चात् बाबाजी गुफा से जाने के लिये उठे। तब बैरागी बाबा ने बाबाजी के पैर पकड़ लिये और उन्होंने उत्साहपूर्वक कहा, ''अब मुझे पता लगा कि आप कौन है....?''

अगले दिन माघ मास के कृष्ण पक्ष की द्वादशी को उन्होंने पुनः श्रीराधा तथा कृष्ण के दर्शन किये जब वे गुफा में बाबा मस्तराम जी की पूजा कर रहे थे। इससे उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति का अनुभव हुआ और इसके पश्चात् शीघ्र ही उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। जिस दिन बैरागी बाबा ने अपनी देह को छोड़ा था उस रात को गंगा माई को स्वप्न आया कि बैरागी बाबा उच्च दिव्य लोकों की ओर जा रहे थे। उच्च लोकों के द्वारों को पार करते हुए वे गोलोक के द्वार पर पहुंचे और उसके अन्दर प्रविष्ट हो गये। माघ मास की मौनी अमावस्या (18-01-1969) को बैरागी बाबा ने ब्रह्मरन्ध्र से अपनी देह को त्यागा था। ब्रह्मरन्ध्र के क्षेत्र में एक बारीक दरार में से निकले हुए कुछ रक्त बिन्दु देखे गये थे।

2. श्री विश्वनाथ राजगढ़िया बाबा मस्तराम जी के एक बहुत बड़े भक्त थे। बाबाजी उनको वकील साहब कहते थे क्योंकि व्यवसाय से वे एक वकील थे। बिहार के मुंगेर जिले के बारी बाजार के निवासी थे। उनका सारा परिवार बाबाजी का बहुत सम्मान करता था। वे अपनी पत्नी त्रिवेणी माई तथा अपनी बड़ी बहिन के साथ बाबाजी के दर्शन के लिये प्रायः आया करते थे। उनकी बड़ी बहिन को बाबाजी बुआजी बुलाया करते थे। वकील साहब एक आध्यात्मिक व्यक्ति थे। इसलिये वे अपने इष्ट भगवान् राम तथा सीताजी के प्रति अपनी भक्ति में वृद्धि करने के लिये, बाबाजी के उपदेशों को आत्मसात् करने के लिये तथा आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर होने के लिये आश्रम में हनुमान् शिला पर आया करते थे। एक बार श्री विश्वनाथ राजगढ़िया बाबा मस्तराम जी के दर्शन के लिये आये और आश्रम के निकट कोठी में ठहरे। उन्होंने गंगाजल पर व्रत करने के लिये बाबाजी से अनुमति ली ताकि उनकी कृपा से उनको श्रीराम तथा सीताजी के दर्शन का लाभ हो जाये।

बाबाजी ने उनको अनुमति दे दी। अपने इष्ट श्रीराम तथा सीताजी का स्मरण करते हुए और उनको सतत चिन्तन का विषय बनाते हुए वकील साहब ने गंगा जल पर व्रत प्रारम्भ कर दिया। जब बाबाजी की कृपा से उन्हें श्रीराम तथा सीताजी का दर्शन प्राप्त हो गया तब

अपने मनोरथ की प्राप्ति से तृप्ति का अनुभव होने पर वकील साहब ने अपना शरीर त्याग दिया। उनके देहावसान के अवसर पर आश्रम में केवल उनकी पत्नी तथा बहिन विद्यमान थीं। वे शोकातुर थीं परन्तु बाबाजी की उपस्थिति ने उन्हें अपार शक्ति प्रदान की। बाबाजी से अकेले गुफा में मिलने के पश्चात् उनको होश आया और उन्होंने अन्तिम संस्कार के लिये आवश्यक कर्म करने की ओर ध्यान दिया। बाबाजी ने स्वयं हनुमान् शिला के ऊपर से अन्तिम संस्कार से सम्बद्ध क्रियाओं का निरीक्षण किया। आश्रम में उपस्थित बाबा लोग वकील साहब के शरीर को अन्तिम संस्कार के लिये हनुमान् शिला के पास ले आए। परन्तु अनेक प्रयास करने के बाद भी चिता में अग्नि नहीं लग पाई। बाबाजी के कहने पर दिनेशजी ने एक मिट्टी का दीपक तैयार किया तथा वे उसे बाबाजी के पास ले गये जो हनुमान् शिला के ऊपर बैठे हुए समस्त क्रियाओं का निरीक्षण कर रहे थे। बाबाजी ने स्वयं दीपक प्रज्वलित किया और उस दीपक की सहायता से चिता में अग्नि दी गई। वकील माई ने, जिनको बाबाजी त्रिवेणी माई कहते थे, कपाल क्रिया की। अन्तिम संस्कार के सम्पन्न होने के तुरन्त बाद मरणोपरान्त आवश्यक क्रियाओं की विवशता के कारण वकील माई और उनकी ननद अपने निवास को चल दीं। यहां पर कथनीय यह है कि बाबाजी ने स्वयं चिता में अग्नि देने में सहायता की तथा अन्तिम संस्कार से सम्बद्ध समस्त क्रियाओं का निरीक्षण किया। यह सब बाबाजी के सम्बन्ध में सामान्य बात नहीं थी। इस सबसे अपने प्रिय भक्त वकील साहब के प्रति बाबाजी की अपार कृपा तथा ध्यान पर प्रकाश पड़ता है।

3. नानी मां अपने अनुभव के आधार पर एरिक एमरॉन स्मिथ एक अमेरिकन नागरिक के हृदयस्पर्शी वृत्तान्त का वर्णन करती है। जब एरिक ने बाबाजी के दर्शन किये थे तब वह उनके आध्यात्मिक प्रभाव से पूरी तरह इतना अभिभूत हो गया था कि उसने अपने आप को बाबाजी के प्रति पूरी तरह से समर्पित कर दिया था। ऐसा होने पर कि वह एक विदेशी था और इस कारण से वह वीज़ा पर निश्चित समय से अधिक भारत में नहीं ठहर सकता था फिर भी वह बाबाजी

के आध्यात्मिक सामीप्य को कभी भी नहीं छोड़ना चाहता था। बहुत सी कठिनाइयों के पश्चात् अन्ततः अमेरिका लौटने पर वह बार-बार बाबाजी के आश्रम पर आ जाता था। अन्त में उसने बाबाजी के चरणों में उनके चेहरे को एकटक देखते हुए तथा 'भगवान्! भगवान्!' कहते हुए प्राण त्याग दिये।

4. इंग्लैण्ड से एक बाईस साल की नवयुवती ऐसे सद्गुरु की खोज़ में भारत आई जो सत्य के अन्वेषण में उसकी सहायता कर सके। कनखल के एक पण्डित की सहायता से उसने 1971 में बाबाजी के दर्शन किये। बाबाजी के दर्शन करने के बाद उसे ऐसा अहसास हुआ कि वह कभी उनके सांनिध्य से दूर न हो। बाबाजी की अनुमति से वह हनुमान् शिला वाले आश्रम में अगले 16 वर्ष तक रही।

प्रारम्भ में उसे गोमती नाम से संबोधित किया जाता था जो नाम उसे बागेश्वर में स्थित मन्दिर में दिया गया था। बाद में बाबाजी ने उनका 'नानी' नाम रख दिया। तब से अब तक वे 'नानी माई' - इस नाम से जानी जाती हैं। जब वे 29 वर्ष की थीं तब वे सावन के महिने (अगस्त, 1977) में उष्णकटीबन्धीय संग्रहणी रोग से पीड़ित हो गई। यह रोग इतना दुर्बल कर देने वाला था कि नानी मां एक कंकाल बन के रह गयी थीं। सारे शरीर पर झुर्रियां होने के कारण वे 90 वर्ष की वृद्धा जैसी लग रही थीं। आश्रम में आने वाले एक डॉक्टर ने उनकी यह अवस्था देखी। उन्होंने यह सुझाव दिया कि इस रोग के इलाज के लिये उन्हें अस्पताल में दाख़िल करा देना चाहिये। नानी मां ने बाबाजी की सौम्य दयापूर्ण उपस्थिति से अपने को दूर ले जाने से स्पष्ट रूप से मना कर दिया। इस नाज़ुक स्थिति में अस्पताल में दाख़िल होने से मना करना नानी मां का आध्यात्मिक झुकाव तथा उनकी सांसारिक सम्बन्धों के प्रति उदासीनता को सूचित करता है । एक दिन नानी मां ने बाबाजी को कहा कि उन्हें स्वप्न में एक स्वर्णपात्र में पीने के लिये दूध दिया गया। इस पर बाबाजी ने कहा कि वह गाय का ताजा दूध पीकर ठीक हो जायेगी। गाय का ताजा दूध पीकर होली (24 मार्च, 1978) तक नानी मां रोग से मुक्त हो गई। जब नानी मां रोग से मुक्त हो गई तब उन्होंने पुनः बाबाजी की देख-रेख में अपने को पूरे

मन से आत्मा के चिन्तन में लगा दिया। कोई भी आध्यात्मिक मार्ग में कठिनाई आने पर बाबाजी नानी मां की मदद करते थे। 1986 में बाबाजी ने नानी मां से 'आत्मचिन्तनम्' का अंग्रेजी में अनुवाद करने को कहा। जब नानी मां 'आत्मचिन्तनम्' का अंग्रेजी में अनुवाद कर रही थीं तब 'आत्मचिन्तनम्' में आने वाले कठिन स्थलों के विषय में उन्होंने बाबाजी से पूछा। बाबाजी ने अद्वैत दर्शन की ग्रन्थियों का भली-भांति स्पष्टीकरण कर दिया। इस प्रकार नानी मां के टिप्पणियों सहित अनुवाद ने 'आत्मचिन्तनम्' के तात्पर्य को समझने में बहुत अच्छी सहायता की। बाबाजी की अनुमति से नानी मां के अनुवाद को आधार बना कर मैंने 'आत्मचिन्तनम्' का हिन्दी में अनुवाद करके बाबाजी को दिखा दिया।

जब बाबाजी ने अपना भौतिक रूप त्याग करके निर्वाण प्राप्त कर लिया था तब प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण नानी मां को आश्रम छोड़ना पड़ा था। तब नानी मां गंगोत्री चली गई थीं। कुछ समय के पश्चात् वे गंगोत्री से उत्तरकाशी आ गईं। जब 2013 में विध्वंसक बाढ़ ने उनके आश्रम को बहा दिया था तब वे ऋषिकेश आ गई थीं और गौरी माफी गाँव में बस गईं। अन्तिम अवस्था में पहुंचे हुए कैंसर के रोगियों की सेवा-शुश्रूषा के लिये एक आरोग्य धाम के निर्माण कार्य में उन्होंने अपने आप को समर्पित कर दिया। जन-कल्याण के लिये यह एक बहुत बड़ी योजना थी जिसमें वे निःस्वार्थ भाव से जुट गईं:

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि।। भ. गी., 3.20

"कर्म से ही जनक आदि ने परम सिद्धि प्राप्त की थी। लोक कल्याण को ध्यान में रखते हुए ही तुम्हें भी कर्म करना चाहिये।"

"स्पीकिंग ट्री" के साथ इण्टरव्यू में नानी मां ने बताया कि बाबाजी ने किस प्रकार उनका मार्गदर्शन किया: "जब मैं उनकी शरण में आई थी तब मैं एक खाली पुस्तक (clean book) थी। पहले-पहल मैं सेवा में व्यस्त रहती थी। भगवद्गीता तो मैं पहले से ही पढ़ रही थी। उसके साथ-साथ उन्होंने मुझे तुलसीदासजी की अंग्रेजी में अनूदित

रामचरितमानस भी दी जिसको पढ़ना मुझे बहुत अच्छा लगता था। बाबाजी ने देखा कि मुझे पढ़ना अच्छा लगता है तो उन्होंने मुझे पढ़ने के लिये और आध्यात्मिक पुस्तकें दीं। एक दो वर्ष के अनन्तर मैंने पूछा कि एक पुस्तक में जो कहा जाता है उसी विषय को दूसरी पुस्तक में भिन्न रूप से प्रस्तुत क्यों किया जाता है? उन्होंने मुझसे कहा, तुम्हें संस्कृत सीखनी पड़ेगी। जब तुम मूल संस्कृत में अध्ययन करोगी तब तुम्हें समझ आयेगा कि वास्तव में क्या कहा गया है?" इसका कारण यह है कि अनुवाद से कभी मूल तात्पर्य पकड़ में नहीं आ पाता।

पहले उन्होंने मुझे भक्ति से सम्बद्ध शास्त्र दिये। बाद में मुझे अध्यात्म रामायण दी जो ज्ञान पर आधारित थी। तब उन्होंने मुझे उपनिषद् तथा शंकराचार्य के ग्रन्थों में प्रवेश कराया। कुछ वर्षों तक मैंने इन ग्रन्थों का अध्ययन किया। तब उन्होंने मुझसे कहा, "सब पुस्तकों को बन्द कर दो और ध्यान का अभ्यास करो।" शेष वर्षों में मैंने खूब ध्यान का अभ्यास किया। मैं थोड़ा बहुत अध्ययन करती थी विशेषतः योगवासिष्ठ और श्रीमद्भगवद्गीता का। परन्तु अधिकतर मैं ध्यान का ही अभ्यास करती रही।

बाबाजी के जीवन से सम्बन्धित विवरण के अन्त में नानी मां के प्रश्न को लेकर बाबाजी ने जो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्तर दिया मैं उसकी चर्चा करना चाहता हूं। यह प्रश्न योगवासिष्ठ में आई हुई चूडाला तथा शिखिध्वज की दुर्बोध कथा से सम्बन्धित है। बाबाजी ने उस प्रश्न का जो उत्तर दिया वह उन्नत तथा गंभीर आध्यात्मिक जिज्ञासुओं का मार्ग प्रशस्त करने वाला उपदेश है। एक इण्टरव्यू में नानी मां ने इस उत्तर का जैसा वर्णन किया उसे मैं शब्दशः ठीक वैसे ही प्रस्तुत कर रहा हूंः-

एक बार मैं यह समझने का प्रयत्न कर रही थी कि यदि अपना आप (आत्मा) ही आत्मा है तो यह कैसे संभव है कि व्यक्ति उसका साक्षात्कार कर ले? मन में यह विचार आ रहा था कि शास्त्रों अर्थात् उपनिषदों में यह कहा गया है, "जो यह कहता है कि मुझे आत्मा का ज्ञान है, वह (वास्तव में) नहीं जानता है" क्योंकि ज्ञान (आत्मा

ज्ञानस्वरूप है) को कर्म नहीं बनाया जा सकता है (अर्थात् आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप आत्मा को कर्म कैसे बना सकती है? क्योंकि ऐसा मानने पर कर्मकर्तृविरोधरूप दोष की प्रसक्ति होती है। जो कर्ता है वह कर्म नहीं बन सकता)। जब मैं योगवासिष्ठ पढ़ रही थी तब मैंने बाबाजी से कहा था, "बाबाजी रानी चूडाला राजा शिखिध्वज के आत्मानुभव का समय जानती थी। यह समय 18 वर्ष के कठिन परिश्रम के बाद आने वाला था। उसने तपस्या की, ध्यान का अभ्यास किया परन्तु चूडाला को यह पहले ही ज्ञात था कि राजा शिखिध्वज को 18 वर्ष के पश्चात् आत्मसाक्षात्कार होगा। चाहे चूडाला को इन बातों का ज्ञान होता अथवा नहीं होता, शिखिध्वज को तो आत्मानुभव होना ही था, तो फिर साधना की इस में क्या भूमिका है?" बाबाजी ने उत्तर दिया, "कुछ नहीं, यह (आत्मसाक्षात्कार का) कारण नहीं है किन्तु ये (साधना, तपस्या, ध्यान आदि) आत्मानुभव के लिये आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति के लक्षण हैं कि वह आत्मानुभव कर लेगा लेकिन ये सब आत्मानुभव के कारण नहीं हैं।" बाबाजी ने कहा कि अपने आप होने के अतिरिक्त आत्मानुभव और कुछ नहीं है बल्कि बुद्धि का ऐसा ज्ञान कि वह आत्मा से भिन्न है, आत्मानुभव कहा जा सकता है। स्वयं (आत्मा) को अपने देह से पृथक् देखना। यह उपदेश बाबाजी के महत्त्वपूर्ण उपदेशों में से एक था और आत्मा तथा बुद्धि का यह भेद मेरे लिये एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टि थी। यह स्थिति एक पके हुए नारियल के समान है। जब नारियल पक जाता है तब वह खोल से अलग हो जाता है। इस (आत्मा तथा देह-बुद्धि के) अत्यन्त भेद को समझने की दृष्टि से मेरे लिये यह एक बड़ा क़दम था क्योंकि इससे पहले मैं किसी वस्तु का अन्वेषण करने के लिये प्रयास कर रही थी और मुझे यह बिल्कुल पता नहीं था मुझमें तथा मेरी आत्मा में इतना अधिक अन्तर है (यहां देह-मन-इन्द्रिय-संघात तथा आत्मा का भेद अभिप्रेत है क्योंकि सामान्यतया हम अपने आप को देह-मन-इन्द्रिय का संघात समझते हैं और वह आत्मा नहीं है अर्थात् मैं देह-मन-इन्द्रिय-संघात नहीं हूं)। यह एक बहुत बड़ी बात थी जिसको समझने के बाद मैं आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ने में

समर्थ हो सकी। यह एक बहुत ही मार्मिक पड़ाव था। प्रारम्भ में मैं यह सोचती थी कि मैं एक वस्तु का अन्वेषण कर रही हूं जो मुझसे बहुत दूर है। इसके बाद मैंने इस प्रकार सोचना बन्द कर दिया कि मैं कोई दूर में विद्यमान वस्तु ढूंढ़ रही हूं। परन्तु इस स्थिति से मैं अलग नहीं हुई (अर्थात् देह-इन्द्रिय-मन के संघात से आत्मा भिन्न है, इसका बौद्धिक ज्ञान तो मुझे हो गया था परन्तु मैं इस सैद्धान्तिक ज्ञान को व्यवहार में नहीं उतार पाई अपने व्यक्तित्व के भाव से उबर नहीं पाई)। चैतन्य हममें व्याप्त है और हम सब चेतन प्राणी हैं। हमारी देह तथा बुद्धि भी चेतन प्रतीत होती है और हम देह-बुद्धि के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं। आत्मज्ञान के इच्छुक अपने अन्दर अन्वेषण करते हैं जो कि उनको करना चाहिये परन्तु वे अपना अन्वेषण नहीं करते, किसी और का करते हैं। यह मेरे प्रथम प्रयासों में से एक था कि मुझे यह महत्त्वपूर्ण विवेक प्राप्त हुआ। यह महर्षि रमण के कथन के समान है: "केवल आवश्यक यह है कि तुम सत्य से भिन्न को सत्य समझना त्याग दो।" (डेविड गॉडमैन (1992) *Be As You Are*, p.11).

बाबाजी के आध्यात्मिक सिद्धान्त

अब हम बाबाजी के उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों का आलोचन करते हैं जो या तो धर्मशाला में यात्रियों के प्रश्नों के उत्तर के रूप में बताये गये और या जो हनुमान् शिला पर श्रीमद्भगवद्गीता पर प्रवचन करते हुए बाबाजी के द्वारा समझाए गये। विभिन्न स्त्रोतों से यह पता लगा कि बाबाजी इस स्थान पर 1965 से थोड़ा पहले आ गये थे क्योंकि 1965 में ही उन्होंने गीताजी पर मुख्यतः दूसरे तथा तीसरे अध्यायों पर प्रवचन करना प्रारम्भ कर दिया था। जब उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता पर व्याख्यान देना प्रारम्भ किया तब महाभारत के युद्ध में अर्जुन की मानसिक अवस्था को उन्होंने विस्तारपूर्वक समझाया था:- युद्ध के परिणामों को सोचकर अर्जुन मानसिक अवसाद से ग्रस्त हो गया था। यह विचार अर्जुन को नहीं सुहाता था कि वह अपने दादा भीष्म पितामह तथा अपने गुरु द्रोणाचार्य को युद्ध में मारे जिनको वह अत्यन्त सम्माननीय मानता था। इसके अतिरिक्त यह मुझे घृणास्पद

लगता है कि मैं अपने उन्हीं सम्बन्धियों को युद्ध में मारूं जिनके साथ मैं विजय की उपलब्धियों का संविभाग करता यदि विजय प्राप्त कर लेता। इसलिये यही उचित है कि कौरव ही मुझे युद्ध में मार दें। दूसरा अनर्थ यह है कि युद्ध में वीरों के मारे जाने पर स्त्रियां विधवा हो जायेंगी और इसके परिणामस्वरूप सम्बन्धों में घालमेल के कारण शुद्ध सन्तान के न होने से एक सांस्कृतिक विपत्ति आ पड़ेगी।

इस प्रकार के विचार अर्जुन को तंग कर रहे थे। यह सम्बन्धियों का विनाश था जिससे अर्जुन को मानसिक अवसाद हुआ। परन्तु इन सम्बन्धों का अस्तित्व उसका अपने शरीर के साथ होने वाले तादात्म्य सम्बन्ध के कारण था। भ्रान्ति से उत्पन्न यह तादात्म्य एक सामान्य सी बात थी और यह ही संसार की सब समस्याओं का कारण है। हमारे स्वाभाविक स्वरूप (आत्मा) पर देह, इन्द्रिय तथा मन के अध्यारोप से उत्पन्न यह मोह ही व्यक्ति को अन्तरात्मा की ओर अन्तर्मुखी नहीं होने देता। युद्धभूमि में अर्जुन की यही परेशानी थी जब उसने भगवान् श्रीकृष्ण को रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाने को कहा।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा ही वास्तव में नित्य है और जो कुछ भी पदार्थों के साथ इन्द्रियसंयोग से उत्पन्न होता है वह अनित्य है। तो फिर किस लिये व्यक्ति सुख के पीछे भागे और दुःख से बचे? बाबाजी ने इस विषय को इतनी गम्भीरता से लिया कि उन्होंने इस विषय पर विस्तारपूर्वक व्याख्यान दिया। यद्यपि यहां पुनरावृत्ति प्रतीत होती है तथापि यह बहुत ही फ़ायदे की बात है क्योंकि सामान्य व्यक्ति संसार में इतना लिप्त होता है कि अज्ञान के कारण उत्पन्न होने वाली अत्यन्त संमोहक निद्रा से जगाने के लिये बार-बार उद्बोधक कथनों की आवश्यकता होती है। भगवान् श्रीकृष्ण सामान्य जन की मानसिक स्थिति के समान अर्जुन की मानसिक अवस्था को जानते थे। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह भली-भाँति समझाया कि उसको वह करने से नहीं बचना चाहिये जो सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार उचित हो क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब कुछ अनित्य है। व्यक्ति का सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वह उस कार्य को करे जो

शास्त्रों तथा सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार ठीक हो ताकि उसके द्वारा किया गया कर्म दूसरों के लिये पथप्रदर्शक बन जाये और इस प्रकार उसमें अपराध की भावना का भी जन्म नहीं होगा कि उसने शास्त्रों का उल्लंघन किया है।

योग का वह ज्ञान जो भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को देने वाले थे वह पहले सूर्य को दिया गया था जिसको सूर्य ने अपने पुत्र मनु को दे दिया था। मनु ने यह ज्ञान राजा इक्ष्वाकु को दिया था। इसके बाद यह योग लुप्त हो गया। अब वही योग महाभारत की युद्धभूमि के मध्य भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को बताया जाने वाला है। अर्जुन के लिये भगवान् के द्वारा इस योग से सम्बन्धित व्याख्यान की आवश्यकता क्यों पड़ी - इसकी पृष्ठभूमि बाबाजी ने पहले ही विस्तार से समझा दी। वास्तव में अर्जुन की यह मानसिक अवस्था तब स्पष्ट हो गई थी जब अर्जुन ने वे कारण बताये कि वह युद्ध क्यों नहीं करना चाहता था जबकि वे सारे उपाय पहले ही कर लिये गये थे जिनसे युद्ध करने से बचा जा सकता था। परन्तु दुर्योधन का वह लोभ तथा अभिमान था जिसके कारण भगवान् श्रीकृष्ण के युद्ध से बचने के सारे प्रयत्न असफल हो गये थे।

अर्जुन को यह भय था कि युद्ध में लड़ने से सम्बन्धी जन मारे जायेंगे जिनके साथ वह विजय की खुशी मनाता। परिणामस्वरूप वह इतनी बुरी तरह विषाद से ग्रस्त हो गया था कि उसके लिये खड़ा होना तथा अपने गाण्डीव धनुष को पकड़ना तक कठिन हो गया था। ठीक इसी तरह श्रीमद्भगवद्गीता का आरम्भ मानव की ऐसी मनोवैज्ञानिक अवस्था का वर्णन करता है जो जीवन की ऐसी प्रक्रिया का चयन करने में बहुत बड़ी रुकावट बनता है जो आध्यात्मिक भावना के अनुकूल नहीं है और आध्यात्मिक भावना के बिना व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ नहीं हो पाता। यह अत्यन्त स्पष्ट है कि यह दृढ़ आसक्ति ही है जो हमें उस मार्ग से हटा देती है जो हमें ब्रह्मप्राप्ति की ओर ले जाता है। जब आसक्ति हमें न्यायसंगत मार्ग से हटा देती है तब हम तुरन्त विषाद के द्वारा जकड़ लिये जाते है। बाबाजी

कहते हैं कि जिस विषाद में अर्जुन डूब गया था वह सात्त्विक था। जब महाभारत युद्ध के दसवें दिन भीष्म पितामह धराशायी हो गये थे, तब धृतराष्ट्र भी विषादग्रस्त हो गये थे उनका यह विषाद दुर्योधन की पराजय के भय के कारण था। यह राजसिक था। दुर्योधन का विषाद स्पष्ट दिखाई दे रहा था जब वह द्रोणाचार्य के पास पहुंच कर यह कह कर उनको उकसा रहा था कि उनके शिष्य धृष्टद्युम्न ने पाण्डवों की सेना को बहुत ही अच्छे ढंग से व्यूह में व्यवस्थित किया है और वह उनको मारने के लिये कटिबद्ध है। उसको यह भी रंजिश थी कि भीष्म पितामह पाण्डवों के लिये सहानुभूति रखते थे। उसने यह आदेश भी जारी किया था कि सारे सेनानायक भीष्म की रक्षा करें। राज्य के प्रति अत्यन्त लोभ होने के कारण यह कहा जा सकता है कि दुर्योधन का विषाद तमोगुण से उत्पन्न हुआ था।

बाबाजी ने अर्जुन के विषाद की कीचड़ से तुलना की जिसमें से ज्ञान तथा वैराग्यरूपी कमल विकसित होता है। एक दूसरे स्थल पर उन्होंने अर्जुन के विषाद की तुलना ज्ञानरूपी अग्नि के धूएं से की है। त्याग से वे मेघ उत्पन्न होते हैं जिनसे विवेकरूपी जल बरसता है। जब ये बादल विवेकरूपी जल कीचड़ पर बरसाते हैं तब वह वैराग्यरूपी कमल को उत्पन्न करती है।

इस सात्त्विक विषाद की तुलना अरणियों के घर्षण से की जा सकती है। जैसे यह निश्चित है कि अरणियों के घर्षण से अग्नि की उत्पत्ति होगी। उसी प्रकार वैराग्य तथा ज्ञान का कमल भी अस्तित्व में आयेगा। जब अरणियों के घर्षण से धूम उत्पन्न होता है तब यह प्रसन्नता होती है कि अग्नि उत्पन्न होगी (35)। इस सन्दर्भ में बाबाजी ने सप्तशती में आई हुई कथा का उल्लेख किया। राजा सुरथ तथा व्यापारी समाधि अपने सम्बन्धियों के द्वारा सम्पत्ति छीन कर त्याग दिये गये तथा निष्कासित कर दिये गये। यद्यपि प्रिय सम्बन्धियों के द्वारा उनका सब कुछ छीन लिया गया था तब भी वे उनकी चिन्ता कर रहे थे। वे एक ऋषि के पास गये और उनसे पूछा कि वे अपने उन प्रिय सम्बन्धियों में अब भी इतनी दिलचस्पी क्यों ले रहे हैं जबकि उन्होंने

सब कुछ छीन कर उन्हे बाहर निकाल दिया। ऋषि ने यह उत्तर दिया कि मां भगवती ज्ञानियों के मन को भी बलात् मोह में ढकेल देती है।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।। सप्तशती, 1.55, 56.

ऋषि ने राजा सुरथ तथा समाधि वैश्य को प्रेरित किया कि वे अपनी कठिनाइयों पर विजय पाने के लिये तपस्या करें, मां की भक्ति करें। दूसरी ओर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को सम्बन्धियों के प्रति हिचकिचाहट छोड़ कर दुर्योधन के बुरे इरादे के खिलाफ़ युद्ध करने को कह रहे हैं जो हिचकिचाहट उसमें मोहवश आ गई थी। इन दोनों उदाहरणों में स्थितियां भिन्न हैं और उनके अनुसार सप्तशती में ऋषि के द्वारा तथा श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण के द्वारा दिये गये उद्बोधन (दी गई प्रेरणायें) भी भिन्न हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का ध्यान एक योद्धा के समान कर्तव्य कर्म करने की ओर आकृष्ट करते हैं जबकि सप्तशती में ऋषि के द्वारा राजा सुरथ तथा समाधि वैश्य को अपने अभीष्ट उद्देश्य पूरा करने के लिये तपस्या करने को कहा गया। जिस व्यक्ति में विवेक है वह ज्ञान मार्ग पर चलने के लिये दिये गये उपदेश के योग्य है। परन्तु जिसमें श्रद्धा है वह भक्ति मार्ग पर चलने के लिये योग्य है। उसका कारण है कि जब व्यक्ति अपने आप को भगवान् के प्रति समर्पित कर देता है तो उसमें बालक की तरह मासूमियत प्रवेश कर जाती है। इस अवस्था में भावना की प्रबलता होती है। दूसरी ओर जब साधक अपने से ही सन्तुष्ट रहता है तब वह ज्ञान मार्ग पर चलने का अधिकारी बन जाता है।

अपनी सम्पत्ति के नाश या अपने प्रिय निकट सम्बन्धी के वियोग से मानसिक कष्ट होता है। अर्जुन की यही दुविधा थी क्योंकि युद्ध में वह अपने गुरु द्रोणाचार्य तथा अपने दादा भीष्म पितामह को मारने वाला था। इसीलिये युद्ध न करने के विचार ने उसके मन को अभिभूत कर दिया था। फिर भी एक क्षत्रिय के लिये युद्ध से पलायन करने का विचार अधिक कष्टप्रद है। इस कारण वह निर्णय नहीं कर पा रहा था कि वह युद्ध करे या नहीं। अपने हिसाब से धर्म के बारे में सोचते

हुए युद्ध न करने का विचार उसके मन में घर कर गया क्योंकि युद्ध के परिणाम निश्चित रूप से भयंकर होने वाले थे। अर्जुन की इस मानसिक अवस्था को ध्यान में रख कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मा की नित्यता तथा आत्मा से भिन्न विषयों की अनित्यता के विषय में अच्छी तरह समझाया। अर्जुन के माध्यम से श्रीकृष्ण मानव को यह संदेश देना चाहते हैं कि धर्म के सही स्वरूप को समझते हुए व्यक्ति अपने कर्तव्य कर्म से विमुख न हो। फिर भी हमें सामान्यतः समय का जैसा रूप समझ में आता है उसके अनुसार हम यह सोच कर असमञ्जस में पड़ जाते हैं कि इतने कम समय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश युद्धभूमि में कैसे दे दिया?

इस संदर्भ में बाबाजी ने एक कहानी सुनाई थी। एक बार श्रीकृष्ण और अर्जुन नदी में नहाने के लिये गये जब द्रौपदी भोजन बनाने वाली थी। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से निवेदन किया कि वे अपनी माया उसे दिखाएं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि वह नदी में शीघ्र एक डुबकी लगाये यदि वह पहले निकल आया तो वह नहीं जीतेगा। इस अल्प काल में जब अर्जुन ने नदी में डुबकी लगाई तब उसने देखा कि वह एक देश में है। उसका विवाह हो गया है और उसकी पत्नी मर गई है। अपनी मृत पत्नी के साथ सती होने के लिये उसको जबरदस्ती श्मशान ले जाया रहा है। इसी क्षण उसे होश आ जाता है और वह नदी से बाहर निकल आता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि वह पराजित हो गया क्योंकि वह पहले बाहर निकल आया था। अर्जुन ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और कहा कि वह उनकी माया के सामने सदा ही पराजित है। जब वे दोनों घर पहुंचे तो द्रौपदी ने कहा कि वे बहुत शीघ्र घर आ गये। इसलिये माया के कारण कुछ भी असंभव नहीं है। इसका आशय यह है कि यह समझ लेना चाहिये कि श्रीकृष्ण समस्त श्रीमद्भगवद्गीता इतने अल्प समय में युद्धभूमि में समझा सकते हैं।

श्रीकृष्ण अर्जुन को उस मार्ग को अपनाने से मना करते हैं जो अयोग्य मनुष्यों के द्वारा अपनाया जाता है। इच्छा, क्रोध, लोभ, भय आदि ऐसी मानसिक अवस्थाएं हैं जिनका पोषण दुर्बुद्धि पुरुषों के द्वारा

किया जाता है। सन्तोष, सहनशीलता, शान्ति आदि स्वर्ग के संकेत हैं (43)। सुयश स्वर्ग का दूसरा नाम है और अपयश नरक का। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि उसे यह शोभा नहीं देता कि वह इस तरह से व्यवहार करे। इसलिये यह सर्वथा उचित नहीं है कि वह न्यायपूर्ण युद्ध से विमुख हो। यह कैसे संभव है कि जिसने भगवान् शिव को युद्ध में पराजित करके पारितोषिक के रूप में पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया वह न्यायोचित युद्ध न करके कायर के समान व्यवहार करे।

श्रीमद्भगवद्गीता के नाम की व्याख्या करते हुए बाबाजी ने कहा, "श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि वेद तो भगवान् के श्वास से उत्पन्न हुए परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता का प्रादुर्भाव भगवान् के मुख से हुआ।" गीतशब्द के विषय में बताते हुए बाबाजी ने कहा कि लय, तुक तथा स्वर श्रीमद्भगवद्गीता में अप्रकट रूप में विद्यमान हैं। यहां कर्म लय है, भक्ति तुक है और ज्ञान स्वर का विशिष्ट रूप है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के नामकरण की युक्तिपूर्ण व्याख्या हो जाती है। प्राचीन ऋषियों ने भी इसे श्रीमद्भगवद्गीता ही कहा था। पुराणों में भी ऐसा ही कहा गया है। भगवान् के मुख से प्रादुर्भूत होने के कारण इसे भगवद्गीता कहा गया है और इस कारण से भी कि यह आत्मसाक्षात्कार के तीनों साधन श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का प्रतिनिधित्व करती है।

जब अर्जुन मोह में था तथा उसने युद्धभूमि से बाहर जाने का निर्णय कर लिया था और संन्यास, धर्म तथा सांस्कृतिक विनाश की बात कर रहा था तब श्रीकृष्ण ने कहा, "वह निष्पाप है फिर भी उसमें यह अवाञ्छनीय भावनात्मक व्याकुलता क्यों आई?" यह स्पष्ट है कि उसकी इस प्रकार की मानसिक स्थिति अज्ञान तथा मोह के कारण हुई जो कि एक कुलीन पुरुष की नहीं होनी चाहिये। बाबाजी ने यहां ऋषि वाल्मीकि की उदासी अथवा दुःख का उल्लेख किया जब उन्होंने देखा कि क्रौञ्च पक्षियों का युगल एक शिकारी के द्वारा मारा जा रहा है। यह दुःख एक काव्यात्मक अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ:-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। वा.रा. बालकाण्ड, 2.15

''अरे! निषाद तुझे अनन्त वर्षों तक प्रतिष्ठा (शान्ति) प्राप्त नहीं होगी क्योंकि तूने क्रीडारक्त क्रौञ्च पक्षियों के जोड़े में से एक को मार दिया है।''

यह संस्कृत भाषा का प्रथम श्लोक कहा जाता है। इस बात को और स्पष्ट करने के लिये श्रीराम के कृपा करने से पहले बाबाजी ने तारा के दुःख का भी उल्लेख किया : तारा बिकल देख रघुराया। दीन्ह ज्ञान हर लीनी माया।। (रामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड, दोहे 10 के बाद की चौपाई)।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया कि अपना कर्तव्य अन्य सब कर्मों से ऊपर है और इसीलिये व्यक्ति को अपने कर्तव्य कर्म से विमुख नहीं होना चाहिये जब शास्त्रानुमोदित कोई भी कर्तव्य अपने समक्ष उपस्थित हो। इस स्थिति में व्यक्ति को अपनी मानसिक दुर्बलता त्याग देनी चाहिये और उसका चयन कर लेना चाहिये जो न्यायोचित हो - क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।

जब व्यक्ति इन्द्रिय के विषयों का अनुभव करता है तब वह अपने स्वभाव को भूल जाता है। इसलिये यह संभव है कि वह अज्ञान के कारण त्रुटिपूर्ण निर्णय कर ले और दुःख से अभिभूत हो जाये। इसलिये उसे चाहिये कि वह सांसारिक विषयों के विनश्वर स्वभाव को पहचाने और इतना सामर्थ्य अर्जित कर ले कि उसे यह समझ आ जाये कि वह अपने वास्तविक स्वरूप से विमुख हो रहा है तथा इस प्रकार यह उपयोगी है कि वह ऐसा प्रयत्न करे कि वह अपनी वास्तविक प्रकृति को पहचान ले। यह तभी संभव है जब वह इस तथ्य के प्रति सजग होकर तथा चिन्तन करके इतना सामर्थ्य अर्जित कर ले कि उसे इतनी बात समझ आ जाये कि अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब कुछ अनित्य है।

बाबाजी हमें यह याद दिलाते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता एक उत्साह का गीत है जो सबके लिये है जबकि वेद केवल ब्राह्मण के लिये हैं। वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि अपने गुरु को मारना पाप है परन्तु सुनियोजित ढंग से उनको मारना नीति के विरुद्ध नहीं है यदि वे ऐसे कर्म करने में व्यस्त हैं जो धर्म के विरुद्ध है (67)। यही बात कर्ण के

साथ थी। सुनियोजित ढंग से उसको मारना उसकी वीरता का सम्मान करना था। जहां तक द्रोणाचार्य की बात है वे ब्राह्मण थे। इसलिये युद्ध भूमि में उनको मारना उचित नहीं था। इसलिये उनको युद्धभूमि छोड़ने पर विवश किया गया और धृष्टद्युम्न के द्वारा उनका वध कराया गया (68)।

बाबाजी ने श्रीमद्भगवद्गीता के उद्भव का वर्णन सुन्दर ढंग से किया है जब वे यह कहते हैं कि अर्जुन के विषाद को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण जो स्वयं ज्ञानस्वरूप थे बर्फ के समान पिघलने लगे। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञान के उपदेश से प्रारम्भ हुई तथा कर्मयोग तथा भक्तियोग आदि से अत्यन्त विस्तार को प्राप्त हुई। व्याख्याओं से श्रीमद्भगवद्गीता ने और भी विस्तृत रूप धारण कर लिया। वास्तव में आत्मा से प्रेम करना तथा संसार से वैराग्य प्राप्त करना ही श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश है (72)। अनुपम प्रेम ही वास्तविक प्रेम है जबकि संसार की वस्तुओं से प्रेम को इच्छा कहा जाता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि निष्काम कर्म करना योग है। प्रेम भक्तियोग की आधारशिला है। फिर भी ज्ञान स्वयं श्रीकृष्ण है। थोड़ा भिन्न प्रकार से ऐसे कहा जा सकता है, इच्छा का अभाव अस्तित्व है, प्रेम चैतन्य है और ज्ञान आनन्द है (73)।

'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'त्वम्' शब्द का अर्थ एक जीव है जो व्यक्तीकरण का परिणाम है। निष्काम कर्म करके साधक अपने अहंकार पर विजय प्राप्त कर सकता है और इसके फलस्वरूप अपने स्वरूप को जानने की दिशा में अग्रसर होने की योग्यता प्राप्त कर सकता है। जिस सद्वस्तु की भक्ति की जाती है वह उस सद्वस्तु के प्रेम से उत्पन्न होती है। इससे साधक को परम तत्त्व का साक्षात्कार करने में सहायता मिलती है जिस परम तत्त्व की अभिव्यक्ति 'तत्' शब्द से होती है। 'असि' शब्द से जीव तथा ब्रह्म के अभेद की सूचना मिलती है।

बाबाजी गायत्री मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जो ज्ञान श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित है वही गायत्री मन्त्र में भी अन्तर्निहित है। गायत्री मन्त्र का पहला चरण निष्काम कर्म को अभिव्यक्त करता है

जो कि उस साधक को करना चाहिये जो अपने वास्तविक स्वरूप को जानना चाहता है। यही बात 'वरेण्यम्' शब्द से सूचित होती जिसका अर्थ है 'चयन करने योग्य'। स्पष्ट रूप से व्यक्ति के द्वारा यह सबसे अधिक वाञ्छनीय तथा प्रापणीय अवस्था है कि वह अहंभाव से ऊपर उठ जाये जो साक्षात्कार के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट है। गायत्री मन्त्र का दूसरा चरण भक्ति का सूचक है जिसके अभ्यास से साधक आध्यात्मिक मार्ग पर बढ़ने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।वास्तव में जब साधक अहंभाव से ऊपर उठ जाता है तब ऐसी मानसिक अवस्था में आ जाता है जिसकी सहायता से वह पूरे मन से संसार की गुत्थी सुलझाने में लग जाता है। गायत्री मन्त्र के विषय में बाबाजी के मन्तव्य का संक्षेप यह है – पहला चरण निष्कामता का संकेत करता है। गायत्री मन्त्र के दूसरे चरण से भक्ति संकेतित होती है। तीसरा चरण ज्ञान की ओर इशारा करता है, जो अव्यभिचारिणी दृढ़ भक्ति ही है जो जीव तथा ईश्वर के अभेद की अनुभूति के अनन्तर प्रादुर्भूत होती है।

जब अर्जुन ने युद्ध के प्रति अपनी अरुचि का कारण बता दिया तब भगवान् श्रीकृष्ण ने मन, शरीर तथा इन्द्रियों सहित दृश्यमान जगत् की नश्वरता पर अपना वक्तव्य प्रारम्भ किया। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि उन पदार्थों की ओर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं है जिनकी ओर हम माया के प्रभाव के कारण आकृष्ट होते हैं। जो कुछ अर्जुन ने युद्धभूमि में कहा था वह इस विचार के कारण था कि वह अपने सम्बन्धियों से युद्ध करने जा रहा है जबकि इस विचार का कारण अपने वास्तविक स्वरूप का शरीर के साथ तादात्म्याध्यास है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने इस तथ्य पर अपना प्रवचन प्रारम्भ किया कि जो कुछ हम अपनी इन्द्रियों से अनुभव करते हैं वह सब अनित्य है। इन्द्रियों से ही हमें सुख तथा दुःख की अनुभूति होती है लेकिन यह सब आने-जाने वाला होने के कारण नित्य नहीं है क्योंकि जो कुछ आता-जाता है वह सत्य नहीं होता है। उदाहरण के लिये इन्द्रियों के विषय, सुख-दुःख आदि क्षणिक तथा परिवर्तनशील हैं। जिस किसी वस्तु से हमें एक समय में सुख मिल रहा है किसी

दूसरे समय पर वह दुःखदायी हो जाती है। इसलिये उनके अनियत स्वभाव के कारण हमें उनको अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। प्रत्युत उनको हमें सहन कर लेना चाहिये और यह विचार करना चाहिये कि इस प्रकार के अनुभव का आधार क्या है? जब हम अपना ध्यान आत्मा की वास्तविक प्रकृति की ओर लगाते हैं तब हमें यह समझ आता है कि यह निष्काम मन ही है जिससे हमें शरीर, इन्द्रिय तथा मन के साथ तादात्म्य अध्यास से ऊपर उठने में मदद मिलती है। इसके अतिरिक्त, इन्द्रियों के संपर्क से उत्पन्न दुःख, सुख को व्यक्ति तभी सह सकता है जब वह दृश्यमान जागतिक पदार्थों की अनित्यता के विषय में युक्तियुक्त ढंग से आश्वस्त हो जाता है। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण जागतिक पदार्थों, शरीर तथा उसके सम्बन्ध से उत्पन्न अनुभूति की अनित्यता को परिभाषित करते हैं। जहां तक व्यक्ति के कर्तव्य का प्रश्न है उसे कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिये क्योंकि कुछ भी न करना संभव नहीं है क्योंकि एक क्षण भी व्यक्ति बिना कुछ किये रह ही नहीं सकता। इसलिये यदि हमारी यह नियति है कि हमें कुछ न कुछ तो करना ही है तो अहंकार के बिना समानता की भावना के साथ हमें सही कर्म का चयन करना चाहिये। जब व्यक्ति निष्काम भाव से कर्म करने में सफल हो जाता है, तब उसे भगवान् के प्रति प्रेम प्राप्त हो जाता है और वह बिना किसी रुकावट के भगवान् को याद रखने में रुचि लेता है। गायत्री मन्त्र के दूसरे चरण में आए हुए 'धीमहि' शब्द से साधक की यह अवस्था सूचित होती है। तीसरे चरण से ज्ञान सूचित होता है जिसमें यह प्रार्थना की गई है कि सूर्य का उज्ज्वल प्रकाश हमारी मन की शक्तियों को सन्मार्ग पर प्रेरित करे। इस तरह से श्रीमद्भगवद्गीता की गायत्री मन्त्र से तुलना भी की गई है (73-74)।

बाबाजी ने कहा था कि जब अर्जुन विषाद की स्थिति में था तब उसकी दयनीय अवस्था को देखकर श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में द्रवित होने लग गये थे। बाबाजी ने यह भी कहा था कि सांसारिक वस्तुओं के लिये प्रेम इच्छा है जबकि भगवान् के लिये प्रेम वास्तव में उत्कृष्टतम प्रेम है। उन्होंने आगे यह भी समझाया कि निष्कामता

सत् का स्वरूप है, प्रेम चैतन्य है तथा ज्ञान आनन्द है। बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं कि निष्काम कर्म करने से मनुष्य में 'त्वम्' का अर्थ समझने की योग्यता आ जाती है। भक्ति से 'तत्' का अर्थ समझ में आ जाता है। 'असि' शब्द से जीव तथा ब्रह्म की एकता का ज्ञान सूचित होता है।

बाबाजी इस संदर्भ में एक किस्सा सुनाते हैं। एक साधु था जो मक्खियों से घिरा रहता था। किसी ने उस साधु को देखा और उससे कहा कि वह उन मक्खियों को दूर रखे क्योंकि वे उसको तंग कर रही होंगी। साधु ने कहा कि मक्खियां उतनी दुःखदायी नहीं हैं जितनी इच्छाएं दुःखदायी होती हैं। मक्खियां तो चली जायेंगी लेकिन इच्छाओं का कभी अन्त नहीं होता और जब तक वे रहती हैं सदा कष्ट ही देती रहती हैं। वे लोग विरले ही होते हैं जो इच्छाओं को त्याग देते हैं क्योंकि इच्छाओं का त्याग करने से उनमें सत्य को जानने की योग्यता आ जाती है (78)।

जब शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध विषय अच्छे प्रतीत होते हैं तो वे सुख की अनुभूति कराते हैं और जब वे प्रतिकूल होते हैं तब वे दुःख उत्पन्न करते हैं क्योंकि वे बाह्य रूप से क्रिया करते हैं। जब मन अन्तर्मुखी हो जाता है तब इन्द्रियों का बाहर से क्रियान्वयन बन्द हो जाता है और व्यक्ति आध्यात्मिक सजगता की अनुभूति करता है (79)। जब मन हृदय प्रदेश में केन्द्रित होता है, तब व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती क्योंकि वहां भगवान् का निवास है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है :- ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

जो लाभ तथा हानि के प्रति संवेदनशील नहीं है वे आनन्द की स्थिति में रहते हैं। यदि कोई व्यक्ति सुख के प्रति आसक्ति रखता है तो दुःख भोगना उसकी नियति है। जब साधक का ध्यान अन्तरात्मा में तथा परम सत्य के जानने पर केन्द्रित होता है तब वह अनन्त आनन्द का अनुभव करता है (80)। जो सुख-दुःख से विचलित नहीं होते प्रत्युत उनको सहन करते हैं वे अन्तर्मुखी हो जाते हैं और

आत्माभिमुख होकर सुख-दुःख को समान समझते हैं। जो व्यक्ति सुख तथा दुःख का अनुभव करते हुए समत्वबुद्धि का त्याग नहीं करता उसे स्थितप्रज्ञ समझा जाता है।

वेदान्त दर्शन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य जो छान्दोग्य उपनिषद् में विद्यमान है उसका अर्थ आगे दिये हुए प्रकार से जाना जाता है: 'तत्' तथा 'त्वम्' शब्दों के वाच्य अर्थ क्रमशः सर्वज्ञ ईश्वर तथा अल्पज्ञ जीव होते हैं। इस प्रकार इन दोनों अर्थों में विरोध दिखाई देता है। इसलिये इन समानविभक्तिक पदों का कोई युक्तिसंगत अर्थ प्राप्त नहीं होता। इस विरोध के परिहार के लिये लक्षणा की प्रवृत्ति होती है। यह भागत्याग लक्षणा के रूप से प्रसिद्ध है। इससे हम 'तत्' तथा 'त्वम्' के विरुद्ध वाच्य अर्थों का त्याग कर देते हैं। जब हम सर्वज्ञ तथा अल्पज्ञ इन दोनों विरुद्ध अर्थों का त्याग कर देते है तब 'तत्' तथा 'त्वम्' के अर्थ एक हो जाते हैं अर्थात् उनमें कोई भेद नहीं रहता है क्योंकि विरुद्ध अर्थों का त्याग करने के पश्चात् जीवात्मा का ब्रह्म से भेद समाप्त हो जाता है। उपनिषद् महावाक्यों का यह अर्थ जो इस भाषिक विधा का उपयोग करके प्राप्त किया गया है उपनिषद् महावाक्यों का वही अर्थ बाबाजी ने सरल ढंग से इस प्रकार बताया है कि सामान्य व्यक्ति भी अभीष्ट अर्थ को समझ ले।

प्रारम्भ में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि इन्द्रियों के अनित्य विषय सुख तथा दुःख देते हैं। यह वाञ्छनीय है कि जो कुछ हम इन्द्रियों से अनुभव करते हैं उसको हमें सहन कर लेना चाहिये अर्थात् हमें उससे गहन रूप से प्रभावित नहीं होना चाहिये। सुख तथा दुःख के सहन करने का अभ्यास हमें स्थिरता प्रदान करता है। जब हम अनिष्ट परिस्थितियों का सामना करते हैं तब स्थिरता हममें धैर्य का, समत्वबुद्धि का संचार करती है। बाबाजी यह स्पष्ट करते हैं कि जो व्यक्ति अयोग्य हैं उन्हें महानुभावों के उपदेशों का पालन करना चाहिये ताकि वे धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर सकें। स्थिर बुद्धि वाले लोग ज्ञान प्राप्त करने के योग्य होते हैं (82)। दूसरे व्यक्तियों के लिये यह ठीक है कि वे निष्काम कर्म करने का अभ्यास करें।

निष्काम कर्म करने की योग्यता प्राप्त करने के लिये साधक को संसार की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जो सत्य को जानने वाले विद्वानों के द्वारा बताई गई है। इस संदर्भ में बाबाजी श्रीमद्भगवद्गीता के प्रसिद्ध श्लोक 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' की व्याख्या करते हैं। 'असत्' विद्यमान नहीं होता और 'सत्' का कभी अभाव नहीं होता। यदि 'सत् ' का अभाव होता तो 'असत्' के विषय में चिन्तन ही संभव नहीं होता। यदि 'असत्' 'सत्' हो जाता तो 'असत्' का अपना स्वभाव ही नष्ट हो जाता। 'सत्' तथा 'असत्' - इन दो धुरियों के वास्तविक स्वरूप को जानने वालों के द्वारा 'सत्' तथा 'असत्' के तात्त्विक स्वरूप को सम्यक् रूप से समझ लिया गया है। 'असत्' का अन्त 'असत्' में होता है और 'सत्' की परिणति अनुभव में होती है। यह केवल शब्दों तक सीमित नहीं है। जैसे वेद का अनुभव वेदान्त है, ठीक वैसे ही 'असत्' का अनुभव यह दृश्यमान संसार है। फिर भी सत्ता अथवा प्रतीयमान सत्ता का बुद्धि के द्वारा अनुभव हो रहा है। 'असत्' क्षणभंगुर है। यह 'सत्' जैसा प्रतीत होता है और नष्ट हो जाता है। यह सतत परिवर्तनशील है। रस्सी में सर्प की प्रतीति यथार्थ नहीं मानी जाती। संसार जिसको 'असत्' कहा जाता है वह भगवान् (चैतन्य) के द्वारा बनाया गया है। परम सत् ने यह संकल्प किया 'मैं बहुत हो जाऊँ' और यह दृश्यमान जगत् उत्पन्न हो गया। स्रष्टा ही सृष्टि हो गया क्योंकि जो कार्य को सत्ता में लाता है वह कार्य से भिन्न नहीं है अर्थात् कार्य कारण से भिन्न नहीं है। इसलिये जो जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, वह ब्रह्म ही है। पारमार्थिक दृष्टि से जन्म तथा मृत्यु हैं ही नहीं। जो व्यक्ति स्थिरता का अनुभव नहीं करता उसे सत्य का ज्ञान नहीं होता। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर ले।

जिसका मन सुख के प्राप्त होने पर प्रभावित नहीं होता वह व्यक्ति दुःख से भी विचलित नहीं होता। जिस साधक का मन सत्य के अन्वेषण में संलग्न रहता है वह सांसारिक विषयों में सुख की तलाश नहीं करता है। उसे एकान्त में रहना अच्छा लगता है। विचारणीय विषय यह है कि संसार में जो असत्य है वह सत्य लगता है और

जो सत्य है वह असत्य प्रतीत होता है। शरीर, धन, सम्पत्ति, यश सब असत्य हैं क्योंकि ये सब क्षणभंगुर हैं अर्थात् नश्वर हैं। शरीर में लगातार परिवर्तन होते रहते हैं। सम्बन्धी, बहिन, भाई आदि सब सत्य प्रतीत होते हैं और हम उनमें आसक्त रहते हैं। (इन सब में) आत्मा अव्यक्त रहती है।

जो काल से परिच्छिन्न है, वह अनित्य है। यह श्लोक उनको सचेत करता है जो संसार को सत्य समझते हैं और उनकी प्रशंसा करता है जो सत्य के अन्वेषण में लगे हुए हैं। यदि हम सत् को कारण समझे और असत् को कार्य तो भगवान् सत् तथा असत् – दोनों से परे है अर्थात् परमात्मा (परमार्थ सत्) कार्यकारणातीत है। वास्तव में संसार के प्रतीयमान पदार्थ तथा संसार दोनों ही असत् हैं। सत्य जो वस्तुसत् है वह मन के द्वारा किये गये भेद के कारण आच्छादित रहता है। जो असत् वस्तुओं की ओर भागते हैं, वे स्वयं असत् हो जाते हैं और जो सत्य के अन्वेषण में तत्पर रहते हैं वे ही सत्य का अनुभव करते हैं और बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का यह श्लोक गंभीर अध्ययन की अपेक्षा रखता है ताकि हम इसमें प्रतिपादित विषय के प्रति आश्वस्त हो सकें। इसकी व्याख्या करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि जो व्यभिचार से ग्रस्त है वह वस्तुसत् नहीं है और उसे असत् समझना चाहिये जबकि जो व्यभिचरित नहीं होता है वह वस्तुसत् है।

अवस्तु (असत्) वह है जो देशतः, कालतः तथा विषयतः परिच्छिन्न (सीमित) होता है। परस्पर व्यावृत्त तत्त्वों में जो सत्ता में बना रहता है वह वस्तुसत् होता है। दूसरे शब्दों में जो अनुवृत्त होता है वह सत् है और जो व्यावृत्त होता है वह वस्तुसत् पर आरोपित होता है। इससे हमें श्रीकृष्ण के उपदेश को समझने में सहायता मिलती है कि हमें इन्द्रियों के संपर्क से प्राप्त बाह्य विषयों से होने वाले सुख-दुःख से विचलित नहीं होना चाहिये प्रत्युत शीत तथा उष्ण स्पर्श के अनुभव के समान सुख-दुःख के क्षणभंगुर तथा अनित्य स्वरूप को समझ कर हमें सुख-दुःख को सहन करने का सतत प्रयास करते रहना चाहिये। इसी प्रकार हम यह जान जाते हैं कि असत्य ही सत्य प्रतीत होता है क्योंकि सत्य व्यावहारिक घटनाओं के आवरण में छिपा रहता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में सत् तथा असत् के लक्षण के प्रतिपादन का प्रयोजन है कि हम सत्य तथा असत्य और भाव तथा अभाव के सैद्धान्तिक स्वरूप को समझ लें। इस ज्ञान से हम आध्यात्मिक साधना में सम्यक् रूप से उन्नति करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ जो शरीर से बाहर है वह शरीर के लिये है। जब शरीर ही सत्य नहीं है जो कुछ उसके लिये है वह भी असत्य ही है क्योंकि सत् का कोई शरीर नहीं होता जैसा कि ईशोपनिषद् के आठवें मन्त्र में प्रतिपादित किया गया है। सारे दृश्यमान भूत अपनी उत्पत्ति से पूर्व नहीं थे और वे अपने नाश के पश्चात् नहीं रहेंगे। इसलिये जन्म तथा मृत्यु के मध्य में भी उनको अवास्तविक अर्थात् असत्य ही समझना चाहिये। मध्य में उनकी विद्यमानता आत्मा के अस्तित्व को सूचित करती है।

इस विषय को इस प्रकार समझा जा सकता है। उदाहरणतया सूर्य की किरणों के अभाव में भ्रमजन्य जल की प्रतीति नहीं हो सकती। इसी प्रकार रस्सी के अभाव में सर्प की भ्रान्ति नहीं होती है। ठीक इसी प्रकार प्रातीतिक रूप से दृश्यमान जगत् आत्मा में अध्यारोपित है। उनकी प्रातीतिक सत्ता आत्मा की सत्ता से प्राप्त होती है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि भगवान् सत्य हैं। इसलिये नित्य हैं। हमारी सत्ता कभी समाप्त नहीं होगी। इसलिये असत्य होने के कारण शरीर, इन्द्रियां, मन आदि अपने नाश से बच नहीं सकते। बुद्धि की सम्पत्ति के रूप में ज्ञान धन तथा अन्य सांसारिक सम्पदाओं से बेहतर समझा जाता है क्योंकि यह अन्य सम्पत्तियों की अपेक्षा सूक्ष्म है। धर्म बौद्धिक सम्पत्ति से बेहतर है क्योंकि यह स्वाभाविक रूप से मनुष्य के साथ रहता है। आत्मा का ज्ञान धर्म से भी अधिक उत्कृष्ट है क्योंकि जिस साधक ने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है वह ब्रह्म ही हो जाता है। इसीलिये श्रीकृष्ण अर्जुन को सत्य के स्वरूप पर चिन्तन करने को कहते हैं। भगवान् को भूलकर यदि व्यक्ति संसार के क्षणभंगुर पदार्थों का चिन्तन करता है तो वह सांसारिक पदार्थों के समान हो जाता है (91)। परमार्थ सत् के ज्ञाताओं ने यह जान लिया है कि सत् नित्य है और अवस्तुभूत जगत् अनित्य। वर्तमान श्लोक के प्रतिपाद्य का मुख्य

तात्पर्य यह है कि हमें असत्य को सत्य समझने की भूल में नहीं फँसना चाहिये। अतः इस सबका सार यह है कि आत्मा से अन्य सब कुछ असत् है और उसको वैसा ही समझना चाहिये (89)। गीतागुह्य के निम्न श्लोकों में श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक का अर्थ और अधिक स्पष्ट किया गया है:

नैव नाशो निवासो वा कस्यचित् इति निश्चितम् ।।1cd।।

म्रियमाणं हि को रक्षेत् कोऽवध्यं हन्तुमर्हति।

असदसद्धि सत्सच्च जन्म मृत्युर्न तत्त्वतः।।2।।

जो कुछ भी असत् है उसकी रक्षा नहीं की जा सकती और जो कुछ सत् है उसका नाश नहीं किया जा सकता। सत् तथा असत् के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए यह समझा जा सकता है कि वास्तव में न जन्म है और न ही मृत्यु। यह यथार्थ में अजातिवाद के समकक्ष आ जाता है जिसका माण्डूक्य कारिका में सम्यक् रूप से प्रतिपादन हुआ है। गीतागुह्य के इन श्लोकों के अध्ययन से यह संदेश निकलता है कि बिना किसी हिचकिचाहट के हमें अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये चाहे ऐसी परिस्थिति भी आ जाए जिसमें हमें अपने सम्बन्धियों के साथ युद्ध करने के लिये भी तत्पर होना पड़े।

कर्तव्यश्चेद्धि कर्तव्यः संग्रामः स्वजनैरपि।

निष्पक्षो निर्ममो भूत्वा न्यायाधीशासनस्थवत्।।3।।

जब आँख को अंगुली से दबाया जाता है या आँख में कोई रोग होता है तो एक चन्द्रमा के स्थान पर दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं। इसी प्रकार अविद्या के कारण असत्य सत्य तथा स्थायी प्रतीत होता है। वास्तव में धन तथा अन्य पदार्थ जिनका आरम्भ तथा अन्त होता है वे विभिन्न प्रकार के सुख देते हैं परन्तु अन्त में वे सब दुःख के कारण बन जाते हैं। विद्वान् उन विषयों के अनुभव के प्रति कभी भी आकृष्ट नहीं होते हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।

आद्यन्तवतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। भ. गी., 5.22

बाबाजी यह कहकर स्पष्ट करते हैं कि ऐसा सुख जो दुःख में परिणत नहीं होता वास्तव में वह ही सुख है। लेकिन दूसरी ओर ऐसा सुख जो मानसिक भ्रम के कारण भोग करने योग्य लगता है अन्त में दुःख में परिणत हो जाता है। जो केवल विद्यमान प्रतीत होता है अवश्य ही उसका अन्त होता है। जो प्रत्यक्ष से परे है उसका अन्त नहीं होता। श्रीमद्भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोकों में यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता हैः हे अर्जुन! तुम उसे अविनाशी समझो जिससे सारा संसार व्याप्त है और जिसके कारण सारा संसार सत्य लगता है। ये शरीर जिनको हमने आत्मा समझ रखा है अनित्य हैं। जो आत्मा इन शरीरों में रहती है, वह नित्य हैः

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। भ.गी. 2.17 a,b.

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। भ. गी. 2.18 a,b.

इन शरीरों की मृत्यु पर हमें शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि ये नित्य नहीं हैं। फिर भी विनश्यता का एक तारतम्य है। उदाहरण के रूप में जल पृथिवी की अपेक्षा अधिक स्थायी है। आकाश वायु की अपेक्षा अधिक नित्य है। आत्मा सूक्ष्मतम है और इसलिये यह आत्यन्तिक रूप से नित्य है। इसलिये बिना किसी चिन्ता के कौरवों से युद्ध करो। जो सलाह श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को दी थी कि वह युद्ध की परिस्थितियां पैदा न करे और जो निर्देश वे अर्जुन दे रहे हैं कि वह उचित प्रयोजन के लिये युद्ध करे। व्यक्ति को इन दोनों सलाहों में अन्तर समझना चाहिये। इसलिये साधक को आत्मविषयक चिन्तन करना चाहिये ताकि वह अनन्त आनन्दरूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति कर सके। इस आनन्दरूप पुरुषार्थ को इन्द्रियजन्य सुख की प्राप्ति के लिये नहीं छोड़ना चाहिये। इस विषय में उसे सावधान रहना चाहिये (94, 95)।

यहां बाबाजी बहुत ही सही तरीके से समझाते हैं कि यह सब कुछ सीखने की हमारी प्रवृत्ति वृद्धावस्था में होती है, उससे पहले नहीं। शरीर की अनित्यता का ज्ञान भी तभी सिर चढ़ता है। इसलिये हमें नित्य आत्मा की ओर ध्यान देना चाहिये जिससे यह शरीर अनुप्राणित

है। आत्मा को किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है जैसे सूर्य को अपने अस्तित्व के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर होने के लिये आत्मा के स्वरूप की ठीक समझ होना आवश्यक है। 'न यह मारती है और न ही मारी जाती है', 'नायं हन्ति न हन्यते'- इस श्लोक की हमें अनुचित व्याख्या नहीं करनी चाहिये। यदि कोई व्यक्ति एक भैंस को मारता है और श्रीमद्भगवद्गीता के 2.19 श्लोक को उद्धृत करता हैः य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।। जो इसको हन्ता समझता है, इत्यादि। तो वह उन श्लोकों की अनुचित व्याख्या कर रहा है जो आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। आत्मा की नित्यता का समर्थन करने के लिये श्रीकृष्ण कहते हैः 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।' आत्मा की प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए शास्त्र का जो कथन अर्जुन का अज्ञान दूर करने के लिये अभिप्रेत है उसका तात्पर्य है कि मनुष्य को वही करना चाहिये जो शास्त्र कहता है।

इन शब्दों में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि वह कौरवों से युद्ध करने के कर्तव्य से विमुख न हो ताकि दुर्योधन के द्वारा जो कुछ अन्यायपूर्ण ढंग से हस्तगत किया था उसको वापिस लिया जा सके। भगवान् बार-बार आत्मा के स्वरूप के विषय में ध्यान आकृष्ट करते हैं। उपरोक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए भगवान् कहते हैं जो छः प्रकार के विकार यास्क ने अपने ग्रन्थ निरुक्त में प्रतिपादित किये हैं वे आत्मा का स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं। इसी संदर्भ में बाबाजी पुराण शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पुराण वह है जो तीनों कालों में नवीन बना रहे। शरीर के मर जाने पर आत्मा का नाश नहीं होता जैसे घट के नष्ट हो जाने पर घटाकाश नष्ट नहीं होता। आत्मा प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण है इसलिये इसे अव्यय कहा जाता है। जो आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह स्वयं आत्मा हो जाता है। साक्षात्कारसम्पन्न व्यक्ति की दृष्टि में संसार की सत्ता ही नहीं रहती। आत्मज्ञानी कहते हैं कि संसार है ही नहीं और न ही जन्म है और न ही मृत्यु। केवल आत्मा का ही अस्तित्व है।

जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है उसके लिये संसार समाप्त हो जाता है। आत्मा का शरीर के साथ ऐसा सम्बन्ध है जैसा शरीर का सम्बन्ध वस्त्रों के साथ होता है। जब शरीर जीवन के लिये उपयुक्त नहीं रहता तब आत्मा शरीर को बदल देती है। आत्मानुभव प्राप्त व्यक्ति कहता है कि पुराना वस्त्र चला गया। इसे जाने दो और मुझे दूसरे की भी आवश्यकता नहीं है। जब अर्जुन ने कहा कि बाणों से आदमी को मारने पर पाप लगेगा तब भगवान् उसे समझाते हैं कि शास्त्रों के अनुसार मनुष्य को मारने पर पाप नहीं लगता (100)। बाबाजी व्याख्या करने का क्रम बनाए रखते हुए कहते है कि दैत्य अपने नाखूनों से माँ भगवती को कष्ट पहुंचाते रहते थे। फिर भी माँ ने उन्हें युद्ध में मारा ताकि वे अपने तामसिक शरीर से मुक्ति पा सकें और स्वर्ग जा सके क्योंकि शास्त्र कहता है कि जो युद्धभूमि में प्राण त्यागता है वह अवश्य स्वर्ग जाता है। माँ भगवती का यह उद्देश्य उनके लिये था जिन्होंने माँ को कष्ट पहुंचाया था। व्यक्ति को चाहिये कि वह धर्म के लिये शरीर को रखे और धर्म के लिये ही शरीर को त्याग दे (101)। यही आध्यात्मिक संदेश इस श्लोक के द्वारा संप्रेषित किया जा रहा हैः

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। भ. गी., 2.22

मृत्यु के समय जल का आचमन प्राणों के वस्त्र का काम करता है जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है। मृत्यु के पश्चात् आत्मा के जन्म लेने के विषय में मतभेद है कि आत्मा मृत्यु के एकदम बाद जन्म लेती है या धूएं, अन्न, पुरुष तथा गर्भ में यात्रा करते हुए पांच या छः महिने के बाद जन्म लेती है (101-2)। हां, यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि आत्मा शरीर से भिन्न है। फिर भी किसी को यह संशय हो सकता है कि शरीर के परिणाम के साथ आत्मा में भी कुछ परिवर्तन होता है या नहीं। यह संशय आगे आने वाले श्लोक में दूर कर दिया गया हैः

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। भ. गी., 2.23

''शस्त्र आत्मा को काट नहीं सकते, आग इसको जला नहीं सकती। पानी इसको गला नहीं सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती।'' पृथिवी, जल, आग, वायु आदि आत्मा में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त शरीर में घाव तभी तक ठीक हो पाता है जब तक शरीर में आत्मा रहती है।

विभिन्न मतों में विश्वास रखने वाले साधकों के लिये धर्म के भेद तथा विभिन्न धर्म अभिप्रेत हैं। बाबाजी विभिन्न शरीरों की बात करते हैं जो आत्मा की उपाधि बनते हैं। इसलिये सूक्ष्म शरीर तथा आत्मा की कुछ विशेषताएं साधारण हैं। यह तथ्य अहंता तथा ममता के रूप में अभिव्यक्त होता है। कारण शरीर और भी अधिक अव्यक्त है परन्तु आत्मा तो अचिन्त्य है। इसमें कोई विकार नहीं होता। 'अव्यक्त' शब्द की बाबाजी ने व्यापक तत्त्व के रूप में व्याख्या की है अर्थात् 'अव्यक्त' शब्द व्यक्तिभाव से रहित तत्त्व को बताता है। कई चीज़ें अव्यक्त होती हैं लेकिन चिन्तन का विषय बन सकती हैं परन्तु आत्मा को तो चिन्तन का भी विषय नहीं बनाया जा सकता है। ऐसी भी बहुत सी चीज़ें हैं जो विचार से परे हैं परन्तु उनमें विकार होता है परन्तु आत्मा ऐसी नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में आए हुए 'आश्चर्यवत्' शब्द की व्याख्या बाबाजी ने इस प्रकार की हैः साक्षात्कारसम्पन्न व्यक्ति का व्यवहार समर्पित साधकों में आश्चर्य उत्पन्न करता है (108)। जब साधक शास्त्रों में वर्णित आत्मा की नित्यता को सुनता है तब आश्यर्यचकित हो जाता है और परस्पर पदार्थों की तुलना करने लगता है। जब घड़ा बनता है तब वह अभिव्यक्त होता है। बनने से पहले वह नहीं था और कुछ समय बाद नहीं रहेगा जब यह नष्ट कर दिया जायेगा। इसी प्रकार हमारा शरीर इस समय है, अभिव्यक्त है क्योंकि इसमें प्रातीतिक रूप से आत्मा रहती है। यह शरीर घड़े के समान नाश को प्राप्त होगा। इसलिये इस पर चिन्ता नहीं करनी चाहिये (106)।

तीन गुण आत्मा का आवरण बनते हैं और किसी एक गुण की अधिकता के कारण मानस अवस्था आत्मा के अनुभव में बाधा बनती है। जो व्यक्ति संसार में इस दुविधा के प्रति संवेदनशील है और आत्मा की नित्यता के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह आश्चर्य से अभिभूत

हो जाता है। साधक में जब इस प्रकार आश्चर्य घटित होता है तब वह आत्मा के स्वरूप को जानने के लिये उपयुक्त मार्ग पर चलने लगता है। ब्रह्मज्ञानी बहुत मुश्किल से मिलता है और यदि साधक पूर्व संस्कारों के फलस्वरूप ब्रह्मज्ञानी के दर्शन का अवसर प्राप्त कर लेता है तो उसका मन आश्चर्य से भर जाना निश्चित है। इस प्रकार का आश्चर्य उसमें सत्त्व गुण भर देता है और वह साधक निरन्तर आत्मचिन्तन में लग जाता है। इस प्रकार उसमें आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है।

सत्त्व गुण से सांसारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सत्त्व गुण साक्षात्कार की स्थिति के केवल समीप ले जा सकता है। आत्मा का अनुभव प्राप्त करने के लिये इससे भी ऊपर उठना पड़ता है (107)। श्रीकृष्ण के समान गुरु और अर्जुन के समान साधक शिष्य बहुत ही विरले होते हैं। जब हम ऐसे व्यक्तियों को देखते हैं तो हमें आश्चर्य होता है। भगवान् की कृपा हमें आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव करने के योग्य बना सकती है। जब उन्होंने ध्रुव को अपने दर्शन से अनुगृहीत किया था, तब ध्रुव ने उनसे पूछा था कि क्या प्रमाण है कि वे भगवान् हैं? भगवान् ने ध्रुव के कपोल से अपने शंख का स्पर्श करा दिया था और तुरन्त ही ध्रुव ज्ञान से सम्पन्न हो गये थे तथा फलस्वरूप परमात्मा की स्तुति में मन्त्रोच्चारण करने लगे थे (108)। बाबाजी हनुमान् जी का दृष्टान्त देते हैं। जब लंका जाने के लिये समुद्र को लांघने की बात थी, तब हनुमान् जी शान्त बैठे रहे। जब जाम्बवन्त ने हनुमान् जी का गुणगान किया कि उनका अवतार श्रीराम के कार्य करने के लिये हुआ, तब हनुमान् जी एकदम विशालकाय हो गये थे। यह एक आश्चर्य था।

दूसरा दृष्टान्त बाबाजी ने मन को नियन्त्रण करने का दिया था। जब अर्जुन ने भगवान् से पूछा कि मन का नियन्त्रण कैसे किया जाये जबकि मन वायु जैसा है। जैसे वायु का नियन्त्रण नहीं किया जा सकता ऐसे ही मन का नियन्त्रण भी नहीं किया जा सकता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि हम वैराग्य के साथ आत्मा का चिन्तन करें तो मन को काबू में

किया जा सकता है। जो आश्चर्य का तीसरा उदाहरण बाबाजी ने दिया वह उनके अपने जीवन से सम्बन्ध रखता था। एक बार वे एक ऐसे स्थान पर बैठे थे जहां रामचरितमानस की कथा हो रही थी। पण्डित ने कथा को विराम दे दिया और रामचरितमानस के एक विशेष स्थल का अर्थ बाबाजी से पूछा। तब बाबाजी ने उस ग्रन्थांश के अर्थ की व्याख्या कर दी। यह देखकर कि जो प्रश्नकर्ता की दृष्टि में एक सामान्य साधु था उसने इतने कठिन ग्रन्थांश का इतनी सरलता से स्पष्ट अर्थ समझा दिया था कि वहां बैठा प्रत्येक व्यक्ति आश्चर्यचकित हो गया (109)। लेकिन बाबाजी का यह विचार था कि वास्तविक आश्चर्य तो मन का नियन्त्रण तथा प्रत्येक क्षण भगवान् का स्मरण करना है।

आश्चर्य की घटना को समझाने के लिये बाबाजी के द्वारा रैक्व ऋषि तथा जड़ भरत के दृष्टान्त भी बताये गये (109)। इस जन्म में शरीर का रोग दुःख देता है परन्तु मन का रोग तो असंख्य जन्मों में दुःख का कारण है। बुद्धिमान् साधक शरीर के रोग को अधिक महत्त्व नहीं देते क्योंकि वे मन के रोग की ओर अधिक ध्यान देते हैं। वे मन की कुटिलता को छोड़कर अपने आप को भगवान् की पूजा तथा भक्ति में समर्पित कर देते हैं और उनकी कृपा की प्रतीक्षा करते हैं। आदर करना तथा प्रशंसा करना बाहर की खुशी का कारण है। साधक जन इन्द्रियजन्य सुखरूप अनुभव को दुःख मानते हैं। तुकाराम जैसे भक्त शिक्षित नहीं थे परन्तु वे सीधे तथा निष्काम थे। यह भी एक आश्चर्य की बात है कि एक व्यक्ति चिन्तित है कि वह भगवान् के अन्वेषण में अपना समय लगाने में सक्षम नहीं है और अचानक उसके लिये दृढ़ निश्चय कर लेता है जब उसे समय के शीघ्र बीतने के बारे में सावधान कर दिया जाता है (111)।

सीधापन और निष्कामता जन्म-मृत्यु के चक्कर से उबारने में व्यक्ति की सहायता करते हैं। यदि पापों के नष्ट होने के पश्चात् साधक परिपक्व हो गया है तो वह तुरन्त उस अवसर का लाभ उठाता है जो उसे काल की क्षणभंगुरता का परिचय करा देता है। आत्मा के न तो ज्ञानेन्द्रियां होती और न ही कर्मेन्द्रियां : बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिन करम करइ बिधि नाना।। (रामचरितमानस, बालकाण्ड, 17वें दोहे

के बाद तीसरी चौपाई)। इसलिये यह आश्चर्य की भावना को जगाता है। यह भी एक आश्चर्य है कि इस जगत् का स्रष्टा बुद्धिगम्य नहीं है। उसके पास सब ज्ञान है परन्तु वह किसी के ज्ञान का विषय नहीं बनता जब तक कि साधना तथा तपस्या से मन पवित्र नहीं हो जाता (112)। जो आनन्द के समुद्र में गोता लगाता है वह आनन्दरूप ही हो जाता है। यद्यपि विज्ञान के आविष्कार आश्चर्य उत्पन्न करते हैं तथापि क्या भगवान् से बड़ा कोई आश्चर्य है? वह शक्ति भी आश्चर्य है जिसकी बदौलत हमारा शरीर तथा इन्द्रियां काम करती हैं:

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।। केनोपनिषद्, 1.

यहां बाबाजी एक तोते का उदाहरण देते हैं जिसको यह बोलना सिखाया गया, ''शिकारी आयेगा, जाल बिछायेगा, दाना बिखेरेगा। लेकिन जाल में मत फंसना।'' तोता उन्हीं शब्दों को दोहराता रहा और दूसरे तोतों को वही कहने के लिये बोलता रहा। शिकारी आया, जाल फैलाया और दानें बिखेर दिये तथा तोतों को जाल में पकड़ लिया। तोते अब भी वही कहते रहे जो उन्हें सिखाया गया था। यही दयनीय अवस्था उन लोगों की होती है जो शास्त्रों को पढ़ते ही रहते हैं परन्तु उनकी आवश्यक सारभूत शिक्षाओं को हृदयंगम नहीं करते हैं। बाहर सुख का अन्वेषण करना निरर्थक है। सुख तो अन्दर विद्यमान है। इसलिये भगवान् की सत्यता में विश्वास करते हुए और भ्रमरूप संसार के मोह से मुक्त रहते हुए हमें भगवान् की सत्यता का अनुभव करना चाहिये (114)।

आत्मा के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध आश्चर्य के प्रसंग में बाबाजी एक किस्सा सुनाते हैं जो आत्मानुभूति से सम्पन्न व्यक्ति के दृष्टिकोण पर प्रकाश डालता है। एक राजा किसी आत्मानुभूति से सम्पन्न व्यक्ति से मिलने के लिये आ रहा था। कुछ चरवाहे भी वहां थे। आत्मसाक्षात्कार सम्पन्न व्यक्ति ने उनको जूएं निकालने के लिये एक रज़ाई दे रखी थी। जब राजा वहां पहुंचा, सब चरवाहों ने उत्साह से कहा कि राजा वहां पहुंच गया। लेकिन आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न व्यक्ति

ने उनकी उत्साहपूर्ण वाणी को सुनकर उनसे पूछा कि क्या उनको कोई जुआँ मिली? इस किस्से का तात्पर्य यह है कि आत्मानुभूति से सम्पन्न व्यक्ति ने राजा के आने तथा अपनी पुरानी रज़ाई में जुओं के ढूंढने के काम को समान समझा। ऐसी महान् आत्माओं का मिलना एक आश्चर्य है।

यहां भगवान् श्रीराम के कर्मों का स्मरण किया जा सकता है। जब उन्होंने यह सुना कि उन्हें चौदह वर्ष के लिये वन में जाना है तब वे अक्षुब्ध (शान्त) थे और जब उन्होंने यह सुना कि उनका राज्याभिषेक होने जा रहा है तो उन्होंने कोई विशेष प्रसन्नता की भी अभिव्यक्ति नहीं की। दोनों परिस्थितियों में यह संदेहरहित अक्षुब्ध मानसिक अवस्था अनुभूतिसंपन्न आत्मा के बड़प्पन को बताती है। यदि कोई व्यक्ति ऐसे वैराग्य से संपन्न है तो निश्चित ही वह अपने तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेगा।

एक स्थान पर एक साधु जिसे चमत्कार दिखाने की आदत थी बताया कि मिट्टी से गेहूं कैसे उत्पन्न किया जाता है? उसको खाने के लिये बासी दलिया दिया गया। उसने वह दलिया बड़ी प्रसन्नता से खाया और कहा कि वह बड़ा स्वादिष्ट है। इस प्रकार का संतोष मिट्टी से गेहूं बनाने वाले आश्चर्य से बड़ा आश्चर्य है।

बाबाजी के द्वारा कथित गोपियों से सम्बन्धित एक घटना श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम के स्वरूप का वर्णन करती है। एक बार गोपियां कुछ ढूंढ़ रही थीं। किसी साधु ने गोपियों से पूछा कि वे क्या ढूंढ़ रही हैं? गोपियों ने उत्तर दिया कि वे श्रीकृष्ण को ढूंढ़ रही हैं। साधु ने कहा, "योग का अभ्यास करते हुए प्रसाधन की वस्तुएं छोड़कर, बाल कटवा कर, शरीर पर भस्म लगा कर, तपस्या तथा ध्यान करके श्रीकृष्ण को अपने अन्दर ढूंढ़ना चाहिये।" गोपियों ने कहा कि वे ऐसा कुछ नहीं करेंगी क्योंकि उनको शृंगाररहित मुण्डन करवाये हुए देखकर श्रीकृष्ण को कष्ट होगा। इसलिये उन्हें अपना शृंगार किये रहना चाहिये ताकि उनका प्रेमी उन्हें शृंगार में देखकर प्रसन्न हो। ऐसा कहते हुए उनमें प्रेम का भाव उमड़ने लगा। बाबाजी ने कहा ऐसा प्रेम का उद्रेक

एक आश्चर्य है जो व्यक्ति को भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हुए रोमांचित कर देता है।

कुछ भक्त ऐसे स्थान पर शीघ्रता से जाते हैं जहां भगवान् के नाम का संकीर्तन हो रहा हो। इस प्रकार का प्रेम भी एक आश्चर्य है। भक्ति में प्रेम मुख्य होता है। यद्यपि मीरा एक रानी थी तथापि श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम से अभिभूत होकर लज्जा को त्याग कर नाचती थी। ऐसी सोच कि वह दूसरों के द्वारा वह देखी जा रही है, लज्जा को स्वाभाविक रूप से उत्पन्न कर देती है (117)।

मनुष्य स्वाभाविक रूप से अपनी कल्पनाओं में डूबा रहता है लेकिन ऐसा व्यक्ति जो धन, जायदाद, यश आदि से सम्बन्धित प्रत्येक इच्छा को छिन्न-भिन्न करके दूर कर देता है, एक आश्चर्य है। जो साधक अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है इस दृश्यमान जगत् की तनिक भी परवाह नहीं करता। ऐसा साधक जिसने आत्मा का अनुभव कर लिया है, एक आश्चर्य है। इस प्रसंग में बाबाजी एक ब्राह्मण और उसकी पत्नी की कथा सुनाते हैं जिनको भिक्षा में खाने की सामग्री के साथ एक हीरा मिला था। उन्होंने उस हीरे को फेंक कर भोजन की सामग्री से भोजन बना कर खा लिया। लालसा, क्रोध और लोभ ऐसे विघ्न हैं जो भगवान् का दर्शन नहीं होने देते। ऐसा साधक विरला ही होता है जो योग, भक्ति तथा विवेक से इन विघ्नों पर विजय प्राप्त कर लेता है। भगवान् के दर्शन प्राप्त करने की उत्कट लालसा एक दुर्लभ घटना है।

आसक्ति दुःख का कारण है। यदि हमें धन में आसक्ति है तो धन की हानि होने पर हमें दुःख होगा। यदि हमें धन में आसक्ति नहीं है तो धन की हानि होने पर हमें कोई दुःख नहीं होगा। इसी प्रकार जब हम शरीर में आसक्ति रखते हैं और हम यह सोचते हैं कि हम शरीर ही हैं तो जो कुछ हमारे शरीर में हो रहा है वह ऐसा लगता है जैसे हमें हो रहा हो। आत्मा एक ही है। भ्रम के कारण हम अलग-अलग हैं ऐसा अनुभव करते हैं। यह समझना तथा आश्वस्त होना महत्त्वपूर्ण है कि हम शरीर से भिन्न हैं। आत्मा तथा शरीर भिन्न हैं। अन्धकार तथा

प्रकाश के समान आत्मा शरीर नहीं हो सकती और शरीर आत्मा नहीं बन सकता। बाबाजी एक साधु तथा गृहस्थ के बीच में हुई बातचीत को उपहासात्मक ढंग से बताते हैं। गृहस्थी साधु को संन्यासी कहता है। साधु गृहस्थी को अधिक बड़ा संन्यासी कहता है। गृहस्थी ने पूछा "कैसे?" साधु ने कहा कि जो बड़ी वस्तु को छोड़ता है वह बड़ा संन्यासी है। साधु ने गृहस्थी से पूछा "कौन बड़ा है?" "संसार या भगवान्"। गृहस्थी ने कहा कि भगवान् संसार से बड़े हैं। साधु ने समझाया कि गृहस्थी अधिक बड़ा है क्योंकि उसने अधिक बड़ी वस्तु का त्याग किया है। यह सुनकर गृहस्थी जाग गया और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने लगा। यहां बाबाजी ने धृतराष्ट्र तथा अर्जुन की तुलना की। जहां तक इस वार्तालाप का सम्बन्ध है यह तुलना उपयुक्त है। धृतराष्ट्र एक बड़ा संन्यासी है क्योंकि उसने धर्म का त्याग किया है। वह लालची था। यद्यपि संजय ने उसे 'भारत' कहकर संबोधित किया तथापि वह इस संबोधन के योग्य नहीं था क्योंकि वह लालची था। इस प्रकार का संबोधन अर्जुन के लिये उपयुक्त था क्योंकि वह धर्म के मार्ग पर चल रहा था। जो व्यक्ति यह जानता है कि आत्मा नित्य, शुद्ध, ज्ञान तथा नित्यमुक्त है वह किसी को नहीं मारता क्योंकि उसकी दृष्टि में समस्त प्राणी समान हैं।

नानी मां के द्वारा बताई गयी एक घटना से यह ज्ञात होता है कि साक्षात्कारसम्पन्न व्यक्ति सब प्राणियों को समान मानता है। बाबाजी के आश्रम में गायों के चारे को धर्मशाला की छत पर रखा जाता था। जिनसे धर्मशाला की छत बनी हुई थी उन स्लीपरों के छेदों में से नियमित रूप से कुछ घास-फूस और कीड़े भी धर्मशाला में गिरते रहते थे। उम्र में बड़ी बाबाजी की साध्वी शिष्या गैली माई एक दिन लम्बे मज़बूत डण्डे का सहारा लेकर धीर-धीरे धर्मशाला में आई। वह मुश्किल से झुकी और बाबाजी को प्रणाम करके डंडे को अपने तथा बाबाजी के बीच में रख कर बाबाजी के पास बैठ गयी। कुछ क्षणों के बाद सूँडी के समान एक कीड़ा उसकी सफेद साड़ी पर चढ़ गया। कीड़े के प्रति घृणास्पद ढंग से मुंह बनाते हुए उसने एक लम्बा तिनका उठाया और एक सिरा कीड़े के नीचे रखकर उसे अपने से दूर फेंक

दिया। बाबाजी ने तुरन्त उसका डंडा उठा लिया और उसके घृणास्पद व्यवहार की नकल करते हुए बाबाजी ने डंडे का एक सिरा उसके घुटने के नीचे रख दिया और उसे अपने से दूर फेंकने का अभिनय किया। बाबाजी के इस अभिनय को देखकर धर्मशाला में बैठे प्रत्येक व्यक्ति की हंसी फूट पड़ी लेकिन धर्मशाला में बैठे कुछ लोगों के लिये यह प्राणियों में बाबाजी की समानता की दृष्टि का दृष्टान्त था। नानी मां ने कहा कि बाबाजी के द्वारा कृपा करके वाणी तथा वाग्व्यहार से दिये गये प्रत्येक उपदेश के समान यह गंभीर शिक्षा भी सारे जीवन उनके साथ रही।

जो व्यक्ति इच्छारहित है, जिसमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं है उसे कोई पाप नहीं लगता चाहे वह व्यक्ति युद्ध करने में लगा हुआ हो। निष्काम कर्म क्षम्य है (124)। एक पांच वर्ष का बालक यदि कोई त्रुटिपूर्ण व्यवहार करता है तो वह दण्डनीय नहीं होता। मृत्यु के देवता भी उसको दण्ड नहीं देते। शास्त्र इसका समर्थन करते हैं। बालक में अज्ञान छिपा रहता है। जिसने आत्मा का अनुभव कर लिया है और जो निष्पाप, इच्छारहित, अहंतारहित है वह कोई ग़लती कैसे कर सकता है? बाबाजी कहते हैं कि ब्रह्मजिज्ञासा जीवित रखने के लिये साधक को ऐसा व्यवहार करना चाहिये जो ब्रह्मज्ञानी के अनुकूल हो (125)। ब्रह्म का अनुभव वैज्ञानिक ढंग से सजग तथा सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा किया जा सकता है (दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या, कठोपनिषद्, 1.3.12)। ठीक उसी प्रकार से जैसे पारे का प्रयोग वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है। जिस व्यक्ति ने आत्मा का अनुभव कर लिया है वह शास्त्रविरुद्ध कोई कार्य नहीं करता (125)। पहले पहल अर्जुन न्यायोचित कर्म करने से विमुख हो गया था। अब श्रीकृष्ण अर्जुन को बतायेंगे कि जो ज्ञान के शिखर पर पहुंच गया है वह व्यक्ति धर्म के मार्ग से विचलित नहीं होता है।

आत्मा देही है क्योंकि आत्मा की देह है जो इसके नियन्त्रण में रहती है (125)। देह आत्मा की उपाधि है। अज्ञान के प्रभाव में देही आत्मा अपने को देह समझती है। शरीर तीन प्रकार का होता है: स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण। अज्ञान का बीज जिसमें होता है उसे कारण शरीर

कहते है। सूक्ष्म शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय तथा चार अन्तःकरण होते हैं। कारण तथा सूक्ष्म शरीर लगभग मिले हुए ही होते हैं (126)। तीसरे दृश्यमान शरीर को स्थूल शरीर कहते हैं। मूर्ख लोग इसी को आत्मा समझ बैठते हैं, जो चार्वाक दार्शनिकों का मत है। जो थोड़े बुद्धिमान् हैं वे सूक्ष्म शरीर को तत्त्व समझते हैं। परन्तु यह सूक्ष्म शरीर भी विकृत होता है। सूक्ष्म शरीर के विकार कारण शरीर पर अंकित हो जाते हैं जिनके कारण (उपहित) आत्मा का जन्म तथा मृत्यु होती है। यह बाह्य स्थिति भिन्न-भिन्न जन्मों का कारण बनती है। जो लोग सुखद विषयों के प्रति आसक्त रहते हैं वे गिद्ध तथा शूकर के समान होते हैं। अच्छे बुरे कर्मों के फल सूक्ष्म शरीर में एकत्रित होते हैं। सत् तथा असत् और अच्छे-बुरे का विवेक शरीर में होता है। इन्द्रियों के विषयों की ओर प्रवृत्ति रजोगुण का कार्य है। अकर्मण्यता, अज्ञान तथा आलस्य तमो गुण के परिणाम हैं। सूक्ष्म शरीर भी स्थूल शरीर की तरह नश्वर है (126)। दुर्दम्य माया बड़े-बड़ों को ग्रसित कर लेती है। इसलिये सामान्य जन तो इसके नियन्त्रण में आसानी से आ जाते हैं। फिर भी माया कभी-कभी वैरागी को भी काबू में कर लेती है परन्तु उसको जगा कर तथा उसके अहंकार को नष्ट करके चली जाती है (126)। यहां पर बाबाजी नारदजी की कथा सुनाते हैं जिसमें भगवान् की प्रेरणा से उनको मोह हुआ था बाद में वह मोह उनको जगा कर चला गया।

सब जीवित प्राणियों में एक ही आत्मा है। जिसने यह अनुभव कर लिया है कि आत्मा नित्य है, शुद्ध ज्ञान और नित्य मुक्त है वह हन्ता नहीं समझा जाता यदि वह युद्ध में किसी को मार भी देता है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति निष्काम और अहंकाररहित है उसे कोई पाप नहीं लगता। निष्काम कर्म क्षम्य है (124)। आत्मा का आनुभविक ज्ञान सब शास्त्रों के उपदेशों से ऊपर उठने की योग्यता प्रदान करता है यद्यपि वह कभी ऐसा काम नहीं करता है जो शास्त्रीय नैतिकता के विरुद्ध हो। हमें अपने मन के पीछे नहीं भागना चाहिये प्रत्युत उन नैतिक नियमों का पालन करना चाहिये जो आध्यात्मिक तथा धार्मिक शास्त्रों के द्वारा हमारे लिये निर्धारित किये गये हैं। इससे समाज में

व्यवस्था बनी रहती है। घर के प्रति कर्तव्य तथा पाण्डवों के ऊपर थोंपे हुए युद्ध के बीच अर्जुन को निर्णय करना था। श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि यदि युद्ध का प्रयोजन धर्म से सम्बन्धित है तो इसको धर्मयुद्ध समझना चाहिये। अर्जुन के मन में दुर्योधन के समान लोभ नहीं था। इसलिये अपना कर्तव्य समझ कर उसे युद्ध करना चाहिये। यह क्षत्रिय का कर्तव्य है कि वह शत्रु का विनाश करके धर्म की रक्षा करे। अर्जुन अपने पितामह भीष्म तथा अपने गुरु द्रोणाचार्य के वध के विषय में पूछता है। श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि वे युद्ध में ही मरना चाहते हैं। वृद्ध होते हुए भी वे यहां युद्ध करने के लिये खड़े हुए हैं। तुम क्यों बचना चाहते हो? उन्होंने उसे युद्ध करने की अनुमति दी और यह आशीर्वाद भी दिया कि अर्जुन युद्ध में विजयी हो क्योंकि दुर्योधन उन्हें पांच गांव भी देने को तैयार नहीं था। इसलिये यह युक्तिसंगत है कि वह दुर्योधन से युद्ध करे। जब संक्रामक फोड़ा हो जाये तो उसे शल्यचिकित्सा से निकलवा देना चाहिये। इसी प्रकार दुर्योधन को पाठ पढ़ाना चाहिये। इसके अतिरिक्त एक क्षत्रिय होते हए यह उसका कर्तव्य है कि वह अन्याय के विरुद्ध मनोयोग से युद्ध करे। इसलिये चुनौती स्वीकार करने के पश्चात् युद्ध से विमुख होना कदापि उचित नहीं है (129)।

'मैं ब्रह्म हूं' कहने का अर्थ यह नहीं हो जाता है कि मैं ब्रह्म हो गया हूं। ब्रह्म का अनुभव तभी संभव है जब अहंकार, मोह, इच्छा आदि समाप्त हो जाते हैं और मन पवित्र हो जाता है जो परमतत्त्वविषयक चिन्तन के अभ्यास से संभव होता है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थचतुष्टय में धर्म सबसे पहले है। इसलिये धन धर्म के अनुसार अर्जित करना चाहिये और अर्थोपार्जन का प्रयोजन भी धर्मानुकूल होना चाहिये। धर्म आत्मा की ओर झुका होता है जबकि धन परिवर्तनशील संसार का प्रतिनिधि होता है। धन तथा इच्छा को धर्म तथा मोक्ष के बीच में रखने का हेतु यह है कि धन का उपयोग तथा इच्छा को पूरा करने का प्रयत्न धर्म के अनुसार स्थापित सिद्धान्तों के अनुकूल होना चाहिये जिससे हमारी यात्रा मोक्षाभिमुखी हो जाये। श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे अर्जुन! युद्ध करने के लिये इस प्रकार का अवसर स्वर्ग के लिये

खुला द्वार है। यदि तुम युद्ध न करने का निर्णय करते हो तो तुम्हारे द्वारा धर्म तथा यश की हानि हो जायेगी।" इसके अतिरिक्त युद्ध न करने से अपने से बड़ो की आज्ञा का भी उल्लंघन हो जायेगा। ऐसा सोचना कि भिक्षा मांगना युद्ध करने से अच्छा है और युद्ध का त्याग करके एकान्त में बैठकर भगवान् के लिये भजन करना तुम्हें शोभा नहीं देता क्योंकि तुम्हारे गुरु द्रोणाचार्य तुम्हें एक महान् योद्धा के रूप में देखते हैं। तुम्हारे ही लिये उन्होंने एकलव्य से उसका अंगूठा मांगा था। भगवान् शिव भी तुम्हारी वीरता से प्रभावित हुए थे। ऐसी स्थिति में युद्ध न करना तुम्हारी मां कुन्ती के लिये अपयश का कारण बन जायेगा (132) और लोग भी तुम्हारी निन्दा करेंगे। बड़ो की आज्ञा का उल्लंघन करना हर दृष्टि से पाप है। इसलिये तुम्हें नीतिपूर्ण मार्ग का अनुसरण करना चाहिये और अनुचित ढंग से अधिगृहीत राज्य-सम्पत्ति को पुनः प्राप्त कर लेना चाहिये।

श्रीकृष्ण अर्जुन में कर्तव्यबुद्धि का संचार करने का सतत प्रयत्न कर रहे हैं, "तुमने मुझे अपने आगे खड़ा कर दिया है। इसलिये अब तुम्हारे लिये यह उचित नहीं है कि तुम युद्ध छोड़ कर भाग जाओ।" क्षत्रिय का सबसे पहला तथा महत्त्वपूर्ण कर्तव्य यह है कि वह युद्ध करे जैसे संन्यासी का सबसे पहला तथा सर्वोपरि कर्तव्य वैराग्य तथा संन्यास होता है। इसी प्रकार गृहस्थी का सबसे पहला तथा महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है कि वह वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार कर्म करे। इसी तरह ब्रह्मचारी का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है कि वह वेद् का अध्ययन करे तथा अपने गुरु की सेवा करे। जहां वेद तथा धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित युद्ध हो वहां सम्बन्धों का विचार करके युद्ध से विमुख होना उचित नहीं है। इस सबका सार यह है कि भाग्यशाली क्षत्रिय को ही ऐसे न्यायोचित युद्ध करने का अवसर प्राप्त होता है क्योंकि यह स्वर्ग का खुला द्वार है। यदि तुम युद्ध नहीं करते हो तो तुम निन्दा को निमन्त्रित कर रहे हो जो समाज में सम्मानित व्यक्ति के लिये मृत्यु से भी अधिक कष्टप्रद है।

बाबाजी श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के संवाद् को एक ऐसे प्रकार का विवाद् बताते हैं जो एक न्यायोचित युद्ध करने से युद्ध न करना बेहतर है या

नहीं - इसका निर्णय करने के लिये है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि अर्जुन समृद्धि तथा खुशी के लिये युद्ध करना नहीं चाहता है तो उसको दुःख का भी त्याग कर देना चाहिये उस व्यक्ति के समान जो सुख तथा दुःख को समान समझता है और इसलिये किसी पाप का भागी नहीं बनता। पापी वह है जो इन्द्रियों के प्रभाव में आकर कर्म करता है। अपने मन तथा इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखने में व्यक्ति स्वतन्त्र है। राजा शिबि और दधीचि ऋषि ने अपने शरीर का त्याग एक अच्छे उद्देश्य के लिये किया था। उनको इससे कोई कष्ट नहीं हुआ था क्योंकि वे यह कार्य धर्म के लिये कर रहे थे जिसकी भगवान् से तुलना की जा सकती है। जो व्यक्ति धर्म को महत्त्व देता है उसे कोई कष्ट नहीं होता है। जब वह कोई कार्य धर्म की रक्षा के लिये करता है तब भी उसे कोई कष्ट नहीं होता है। अज्ञानी व्यक्ति जंगल में रहने पर भयभीत होता है लेकिन जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है वह कभी भी किसी से नहीं डरता है। दोनों में यही अन्तर है। प्रत्येक वस्तु को भगवान् मानते हुए व्यापार में होने वाली हानि पर चिन्ता नहीं करनी चाहिये। फिर भी व्यक्ति को समर्पण की भावना से सावधानीपूर्वक अपने कर्तव्य का निर्वहन करना चाहिये और अपने से बड़ो की तथा सम्माननीय व्यक्तियों की निःस्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ' ने बहुत लोगों को प्रभावित किया है। उनमें से बहुत इस श्लोक के कारण श्रीमद्भगवद्गीता की ओर मुड़े हैं। श्रीकृष्ण ने कहा कि क्षत्रिय को भी संन्यास लेने का अधिकार है लेकिन जब वह 75 वर्ष का हो जाये। परन्तु ब्राह्मण स्वाभाविक रूप से संन्यास ग्रहण कर सकता है। बाबाजी ने यहां कश्मीर के ब्राह्मण कैयट की संन्यास भावना का उल्लेख किया जिन्होंने महाभाष्य पर एक बड़ा ग्रन्थ (प्रदीप नामक टीका ग्रन्थ) लिखा। इस कार्य की काशी के पण्डितों ने बड़ी प्रशंसा की थी। वे उनको देखने कश्मीर आये थे। उन्होंने देखा कि वे मिट्टी के घर में रहते थे। उनके पास एक चटाई और जल के लिये एक घड़ा था। उस ब्राह्मण की यही सारी सम्पत्ति थी। उनकी पत्नी जंगल से कुछ ले आती थी और उसी से वे दोनों समय का भोजन बनाते थे। जब काशी

के पण्डितों ने ब्राह्मण कैयट की ऐसी दशा देखी तब उन्हें कश्मीर के राजा पर क्रोध आया कि उसने ऐसे विद्वान् का सम्मान नहीं किया। उन्होंने राजा से कहा कि वह उन्हें इतना कुछ देता है। वह कैयट के जीवन की आवश्यकताओं की ओर ध्यान क्यों नहीं देता? राजा ने कहा कि उसने कैयट को उनकी सब आवश्यकताओं को पूरी करने का प्रयत्न किया परन्तु उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। जब राजा ने कैयट को कुछ गांव देने की कोशिश की तो वे राज्य छोड़ कर चले गये, यह कहकर कि राजा गांव देकर उन्हें लालची बना रहा है और वे ऐसे राजा के राज्य में नहीं रहेंगे जो उन्हें लालची बनाए। काशी के पण्डितों ने कैयट से प्रार्थना की कि वे उस स्थान को छोड़ कर न जायें। बाबाजी ने कहा कि यह 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ' का उपयुक्त दृष्टान्त है।

इसी संदर्भ में बाबाजी इस श्लोक का महत्त्व बताने के लिये एक और दृष्टान्त देते हैं। एक बार एक राजा के बेटे का विवाह हुआ। नवद्वीप में एक पण्डित की पत्नी राजकुमार की नवविवाहिता वधू को आशीर्वाद देने के लिये राजा के महल में गई। बिना कुछ कहे वह वापिस आ गई। रानी ने विचार किया कि पण्डित की पत्नी ने कुछ नहीं मांगा। दूसरे दिन राजा अपने हाथी पर बैठ कर पण्डित के घर गया और पूछा कि दम्पती को क्या चाहिये? पण्डित ने कहा कि उसे अपनी पुस्तक पूरी करने के लिये एक श्लोक की रचना करनी थी जो अब पूरी हो गई है। यदि राजा घर के विषय में पूछना चाहते हैं तो उसे गृहिणी से पूछना चाहिये। जब राजा ने गृहिणी से पूछा तो उसने कहा कि उसके हाथों में चूड़ियां हैं। इसलिये उसे किसी और वस्तु की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो उन्हें चाहिये वह सब कुछ उनके पास है। पण्डित दम्पती का ऐसा संतोष था। बहुत से संन्यासियों ने बेशकीमती हीरे त्याग दिये। जब एक महात्मा ने रविदास को पारस पत्थर देना चाहा तब उसने महात्मा से कहा कि वह उसको छप्पर की छत में ठूंस दे।

जो मनुष्य खुशी आने पर उल्लसित नहीं होते हैं वे दुःख को भी सहन कर सकते हैं। इच्छा, क्रोध और लोभ के त्रिक में लोभ स्थूल है और यह निर्जीव वस्तुओं के लिये होता है। यदि लोभ सन्तुष्ट नहीं होता है

तो इससे क्रोध उत्पन्न होता है। इन तीनों में इच्छा सबसे अधिक सूक्ष्म है। इच्छा होने पर लोभ तथा क्रोध जड़ पकड़ लेते हैं। यदि इच्छा का अन्त हो जाता है तो वे दोनों भी समाप्त हो जाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि अर्जुन अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये युद्ध करता है तो वह पाप का भागी बनेगा। लेकिन यदि वह धर्म के लिये युद्ध करेगा तो उसे पाप का भागी नहीं बनना पड़ेगा। दुर्योधन अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये युद्ध कर रहा है। इसलिये उसे पाप लगेगा। कुलीन पुरुष धर्म के लिये अपने प्राण समर्पित कर देते हैं और वे किसी महान् प्रयोजन के लिये अपना सुख भी त्याग देते हैं। अतः लाभ तथा हानि को समान समझते हुए मनुष्य को अपना कर्तव्य करना चाहिये।

भगवान् का स्मरण न करना भक्त के लिये सबसे बड़ा दुःख है। जो व्यक्ति लोभ के चंगुल में नहीं फंसा है वह परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जो साधक भगवान् को प्रेम करने में लगा हुआ है और संसार से विरक्त है वह सांसारिक पदार्थों की परवाह भी नहीं करता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि उन्होंने पहले ही अर्जुन को आत्मा का ज्ञान अच्छी तरह समझा दिया है अर्थात् सांख्य-योग समझा दिया है जो आत्मा का वास्तविक ज्ञान ही है। जिसने आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसने सब कुछ जान लिया है क्योंकि आत्मा ही सब कुछ है। वह जड़ता से ऊपर उठ गया है और नित्य बोध की अवस्था प्राप्त कर चुका है जो चैतन्य की ही स्थिति है। जिसको आत्मा का ज्ञान नहीं है वह जड़ है और वह सुख से वञ्चित रहता है। 'सकल पदारथ है जग माही करमहीन नर पावत नाही।' यह चौपाई बाबाजी ने उस व्यक्ति के विषय में उद्धृत की है जिसको यह मालूम नहीं है कि वह वास्तव में चेतन आत्मा ही है। जड़ पदार्थ को सुख का स्रोत मानना ही अज्ञान है क्योंकि जड़ पदार्थ दुःख का हेतु है। सुख तथा दुःख, राग और द्वेष, हानि तथा लाभ, जय तथा पराजय आदि द्वन्द्व राग-द्वेष के कारण बनते हैं (150)। ये सब समान हैं क्योंकि ये सब आने-जाने वाले हैं। इसीलिये ये सब नश्वर हैं। अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये इन सबको सहन करना चाहिये जैसा कि भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है:

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। भ. गी. 2.14

व्यावहारिक सत्य तथा पारमार्थिक सत्य में अन्तर है। यहां बाबाजी भरत का राम के प्रति आगमन का दृष्टान्त देते हैं। जब लक्ष्मण ने श्रीराम से कहा था कि उसे भरत के सम्बन्ध में आशंका है क्योंकि वह सेना के साथ आ रहा है। लक्ष्मण ने कहा था कि भरत को युद्ध में हरा कर वे श्रीराम का राज्याभिषेक कर देंगे। इस पर श्रीराम ने कहा कि जिस पद के लिये वह युद्ध करना चाहता है वह नित्य है या अनित्य। यह सुनकर लक्ष्मण शान्त हो गये। श्रीराम के कहने का यह अभिप्राय था कि हमेशा व्यक्ति को अपनी वास्तविक स्थिति में रहना चाहिये क्योंकि अनित्य वस्तुओं के लिये प्रयास करना निरर्थक है (150)। उपर्युक्त श्लोक ज्ञान, कर्म तथा भक्ति मार्गों के सम्बन्ध में प्रासंगिक है।

अब श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग के बारे में बताने जा रहे हैं। उस व्यक्ति के लिये कर्म का कोई विधान नहीं किया गया है जिसने जीवन में संन्यास ग्रहण कर लिया है क्योंकि उसको केवल वह करना है जिससे वह अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाये। कर्म करने में राग-द्वेष की संभावना हो सकती है। अतः इस श्लोक का उपयोग तब है जब कर्ममार्ग का अनुसरण किया जा रहा हो। जो मन आत्मा में संलग्न है वह श्रेष्ठ है। दूसरी मानसिक अवस्थाएं केवल सहायक हैं। उदाहरण के लिये – एक औरत के पति तथा बच्चे हैं। पति ज्ञानयोग का प्रतिनिधि है क्योंकि इस मार्ग में समर्पण के अभ्यास का अवसर है। पुत्र कर्मयोग का बोधक है। पति पुत्र के रूप में जन्म लेता है। इसलिये कर्मयोग ज्ञानयोग का परिणाम है। इस प्रकार ज्ञानयोग मुख्य है और कर्मयोग इसका उपसिद्धान्त है। कर्मयोग का चरम उत्कर्ष होने पर मन कर्म के बन्धन से ऊपर उठ जाता है और वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है (151-2)। बाबाजी कहते हैं कि भक्ति, कर्म तथा ज्ञान मार्गों को बराबर समझना चाहिये। भक्ति ज्ञान तथा वैराग्य की माता है। इसी प्रकार कर्मयोग को ज्ञानयोग से भिन्न नहीं समझना चाहिये क्योंकि जब कर्मयोग का पूरे मनोयोग से अभ्यास कर लिया

जाता है तो इससे व्यक्ति ज्ञान का अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार दोनों को एक दूसरे का सहायक समझना चाहिये।

महात्माओं के लिये जो कुछ सुख का कारण है वह गृहस्थियों के लिये दुःख का हेतु होता है। त्याग तथा तप संन्यासियों के लिये सुख के हेतु हैं लेकिन वे सांसारिक लोगों के लिये दुःख तथा परेशानी के स्रोत माने जाते हैं। एक मां अपने शिशु के लिये सुख का त्याग कर देती है। जो कुछ भी वह अपने बालक के लिये करती है वह दुःख का कारण नहीं समझा जाता प्रत्युत मां के लिये सुख का स्रोत होता है। इसी प्रकार घर को व्यवस्थित करने के लिये वह जो शारीरिक श्रम करती है वह उसके लिये संतोष का कारण समझा जाता है (154)। उदात्त व्यक्ति प्यासे इन्सान के लिये सूर्य की धूप में पानी लेने के लिये बाहर जाता है। यह करना उसको अच्छा लगता है क्योंकि इससे प्यासे व्यक्ति का दुःख कम होगा। एक व्यक्ति जिसके मन में इच्छा है उसे सुख-दुःख होना निश्चित है परन्तु निष्काम व्यक्ति को आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि इच्छा मनुष्य को कर्म के बंधन में डालती है। जिस व्यक्ति में इच्छाएं होती हैं और उनकी पूर्ति के लिये वह अपनी जीविका का अर्जन करने के लिये कुछ नहीं करता है वह आलसी है। उसे न तो मुक्ति मिलती है और न ही भोजन।

भगवान् कहते हैं कि यदि कोई अन्तर्मुखी व्यक्ति फल का विचार न करते हुए कर्म करता है तो उसे न सुख होगा और न ही दुःख। हानि-लाभ की चिन्ता के अभाव में न सुख होता है और न ही दुःख। जो मन बहिर्मुखी नहीं है वह ज्ञानयोग का अधिकारी है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये बाबाजी यहां एक उदाहरण देते हैं। एक बार नौकरानी तथा राजकुमारी दोनों को महल में निमन्त्रित किया गया। नौकरानी ने राजकुमारी के वस्त्र पहने थे। लेकिन जब वे दोनों महल में पहुंची तब राजकुमारी बिना किसी झिझक के महल में प्रवेश कर गयी परन्तु राजकुमारी की तरह वस्त्र धारण किये हुए नौकरानी को यह चिन्ता थी वह अपनी चप्पल कहां उतारे? इस प्रकार उसे पहचान लिया गया कि वह वास्तविक राजकुमारी नहीं थी। राजकुमारी के समान सांख्य में मन अनावश्यक चिन्ता तथा परवाह से मुक्त रहता है। एक राजा साधु

को एक सुसज्जित तथा सुगन्धित महल में ले आया और उससे पूछा कि उसे महल में कैसा लग रहा था? साधु ने कहा कि महल में दुर्गन्ध आ रही थी। साधु का अभिप्राय यह था कि जो बन्धन का कारण है वह बुरा है। सुख देने वाले पदार्थ बन्धन के कारण हैं। इसलिये उनसे दूर रहना चाहिये।

संसार जन्म-मृत्यु रूप है। मृत्यु भय का बहुत बड़ा कारण है। इस भय से मुक्त होना ही मोक्ष है। शास्त्रों के द्वारा बताए हुए मार्ग पर चलने से व्यक्ति इस भय से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इच्छा एक भार है। गरीबों में कम इच्छाएं होती हैं। इसलिये उन्हें कम समस्याओं का सामना करना पड़ता है। धनी लोगों की बहुत इच्छाएं होती हैं। इसलिये उन्हें बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। निष्कामता व्यक्ति को अपयश, हानि, दुःख आदि के भय से मुक्त कर देती है। निष्काम कर्म सब विघ्नों को दूर कर देता है। निष्काम कर्म का मुख्य उद्देश्य आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति है। श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय का 40 वां श्लोक ''नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।'' यह बताता है कि जो लोग आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये निःस्वार्थ भाव से अपने कर्म को करने में लगे हुए हैं, वे निश्चित रूप से अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर लेंगे। जिन्होंने कोई महान् कार्य नहीं किया परन्तु अपने कर्तव्य का अनुष्ठान निःस्वार्थ भाव से किया है, वे भगवान् को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेंगे। अपने मन को कुटिलता से मुक्त रखने का अल्प प्रयास भी व्यर्थ नहीं जाता है प्रत्युत व्यक्ति को आवागमन के चक्र से मुक्ति दिला देता है क्योंकि सीधापन व्यक्ति को न केवल बिना किसी कठिनाई के उद्देश्य की प्राप्ति के योग्य बनाता है बल्कि उसे प्रत्येक प्रकार के भय से भी मुक्त कर देता है। सब इच्छाओं का ज्ञान प्राप्त करना कठिन है क्योंकि हमारी कुछ इच्छाएं अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। सूक्ष्म इच्छाओं सहित सब इच्छाओं का पता लगाने के लिये अथक प्रयत्न की आवश्यकता होती है ताकि उन सबका त्याग किया जा सके। कोई भी व्यक्ति जब तक पूरे प्रयत्न से अपनी गहरी छिपी हुई इच्छाओं तथा आशाओं का पता नहीं लगा लेता तब तक उनका त्याग नहीं कर सकता। इच्छाओं का पता

लगाना तथा उनका त्याग करना एक बहुत बड़ी तपस्या है। मोक्ष के मार्ग पर इच्छाएं तथा अहंकार सबसे बड़े विघ्न हैं। इसी प्रकार क्रोध तथा लोभ को भी त्यागना ही होता है क्योंकि वे भी आध्यात्मिक मार्ग पर बड़े विघ्न हैं।

बाबाजी श्रीकृष्ण की ज्ञानयोग से तथा अर्जुन की कर्मयोग से तुलना करते हैं। जब व्यक्ति चिन्तन करता है तब उसे यह पता चलता है कि सब इच्छाओं तथा आशाओं को त्यागना सबसे कठिन है। यदि व्यक्ति समस्त इच्छाओं तथा आशाओं को त्याग देता है तो परम पुरुषार्थ की प्राप्ति निश्चित है। अतः सब इच्छाओं से मुक्ति पाना सबसे बड़ा तप है। आध्यात्मिक मार्ग पर चलने का अधिकारी बनने के लिये निष्कामता आवश्यक है। जैसे एक कड़वी औषध में रोग को ठीक करने का सामर्थ्य है, उसी प्रकार निष्कामता साधक को मुक्ति तक पहुंचने के योग्य बनाती है जो कि संन्यास से ही संभव है।

जो सुख देने वाले पदार्थों में आसक्त हैं उनका मन स्थिर नहीं रह सकता। यही कारण है श्रीकृष्ण अर्जुन को सांसारिक सुख भोगने की इच्छा का त्याग करके कर्मयोग के मार्ग पर चलने का उपदेश दे रहे हैं जहां अल्प प्रयत्न भी व्यर्थ नहीं होता। निष्काम कर्म सदा सफल होता है जबकि कामनासहित किया हुआ कर्म भय तथा बन्धन का कारण होता है। उदाहरण के लिये यदि एक व्यक्ति यश की कामना से कर्म करता है तो उसके विपरीत निन्दा से उसको भय होगा। धर्मानुष्ठान में त्याग की भावना होती है जबकि कर्म करते हुए जहां इच्छा होती है वहां मोह विद्यमान होता है (167)। इच्छाएं व्यक्ति को अस्थिर कर देती हैं। इसलिये श्रीकृष्ण अर्जुन को सब इच्छाओं तथा आशाओं को त्यागने के लिये कह रहे हैं ताकि वह मन की स्थिरता प्राप्त करके नीतिपूर्ण मार्ग को अपना सके। अपवित्र मन वाले मनुष्य शरीर तथा इन्द्रियों में आसक्त रहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय का 44वां श्लोक (भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।) इसी मानसिक अवस्था को अच्छी तरह स्पष्ट कर देता है। जिनका मन स्थिर तथा दृढ़ होता है केवल वे व्यक्ति ही ध्यान में सफल होकर समाधि प्राप्त कर लेते हैं। रावण ने भगवान्

शिव को प्रसन्न किया परन्तु सांसारिक भोगों की इच्छा की। इसी प्रकार भस्मासुर ने शंकर को प्रसन्न किया और पार्वती को मांगा। इच्छा का अभाव मन की स्थिरता प्राप्त करा देता है परन्तु जिसके मन में इच्छाएं होती हैं वह कभी भी स्थिर प्रज्ञा वाला नहीं हो सकता।

धर्म का स्वरूप सूक्ष्म होता है और वह व्यक्ति को भय से मुक्ति दिला देता है। इसी प्रकार ज्ञान कर्मों के करने से उत्पन्न होने वाले भय को नष्ट कर देता है (172)। सतही ढंग से कर्मों का त्याग उस भय को नष्ट नहीं करता है। जब हम फल की कामना का त्याग करते हैं, तब भय वास्तव में नष्ट हो जाता है। ऐसा करना वृक्ष को जड़ से उखाडने के समान है। यह इसी संदर्भ में है कि बाबाजी वैज्ञानिक आविष्कारों की अधिक प्रशंसा नहीं करते हैं। यद्यपि यह एक दक़ियानूसी विचार लगता है तथापि इसमें एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सन्देश है। वैज्ञानिक आविष्कार हमारी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं तथा जीवन में अनेक सुविधाएं देते हैं। इनसे जीवन में और अधिक सुख तथा और अधिक सुविधाओं के लिये हमारी इच्छाओं में अप्रत्याशित वृद्धि होती है। इस प्रकार की मानसिक अवस्था का होना हमारी आध्यात्मिक उन्नति में निश्चित रूप से हानिकारक है।

बाबाजी अद्वैत दर्शन का उपदेश करते हैं:

निराकारोऽपरिच्छन्नः शून्यत्वे न हि सारता।

चिद्घनो निर्गुणो गूढ आत्माऽद्वैतो निरञ्जनः।। आत्मचिन्तनम्,12.

"आत्मा एक है, रूपरहित, अनन्त, चैतन्य, गूढ़ और निर्गुण है क्योंकि शून्यता (को मानने) में कोई सार ही नहीं है।" इसी कारण आत्मा से अतिरिक्त पदार्थों के लिये इच्छा रखना व्यर्थ है। इसी कारण मनुष्य को पुत्र, धन आदि की इच्छापूर्ति के लिये यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये प्रत्युत इसके स्थान पर फल की इच्छा किये बिना शास्त्रों के द्वारा विहित कर्म करने चाहिये। तब व्यक्ति शान्ति प्राप्त करने की स्थिति में होता है। जो शान्ति चाहता है उसे तीनों गुणों से ऊपर उठना पड़ता है। वेदों का क्षेत्र तीनों गुणों तक सीमित है परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को तीनों गुणों से ऊपर उठने को प्रेरित करते

हैं: त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन (भ. गी. 2.45)। दूसरे शब्दों में वैदिक कर्मकाण्ड में जिन यज्ञों का विधान किया गया है उसमें साधक की रुचि नहीं होनी चाहिये। व्यक्ति को सारी इच्छाएं त्याग देनी चाहिये और निष्काम भाव से कर्म करने चाहिये। कर्म, उपासना तथा ज्ञान मार्गों का वेदों में प्रतिपादन हुआ है। यदि शास्त्रों के द्वारा विहित कर्मों का व्यक्ति निष्काम भाव से अनुष्ठान करता है, तो निष्काम भाव से किये हुए कर्म साधक को ज्ञानप्राप्ति के योग्य बनाने में सहायक होते हैं। इसी प्रकार उपासना भी साधक के मन को पवित्र करती है और उसको ज्ञान की प्राप्ति का अधिकारी बना देती है। जिस प्रकार मां औषधि पीने के लिये बच्चे को आकृष्ट करने के लिये पैसे देती है। उसी प्रकार श्रुति माता व्यक्ति से अच्छे कर्म करवाने के लिये उसको यह बता कर लुभाती है कि उसको उसके कर्मों के अच्छे फल मिलेंगे।

तीनों गुणों से बंधे हुए लोगों को मुक्त कराने के लिये श्रुति तीनों गुणों का उपयोग करती है। जैसे किसी कीचड़ में फंसे हुए व्यक्ति को निकालने के लिये कीचड़ मे घुसना पड़ता है (178)। इस संदर्भ में बाबाजी बृहदारण्यक उपनिषद् 5. 2. 1-3 में उल्लिखित एक कथानक का वर्णन करते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् का संदर्भ प्रजापति की तीन सन्तानों से सम्बन्ध रखता है: देवता, मनुष्य तथा दैत्य। उन्होंने अपने ब्रह्मचर्य का जीवन अपने पिता प्रजापति के साथ व्यतीत किया। जब देवताओं ने पिताजी से शिक्षा के विषय में पूछा, तो प्रजापति ने केवल एक अक्षर 'द' कहा। जब उन्होंने देवताओं से पूछा कि क्या उन्हें समझ आ गया तो उन्होंने कहा कि 'द' अक्षर से उन्हें "अपने आप को नियन्त्रित रखो"- यह समझ में आया। प्रजापति ने कहा कि उन्होंने उनके उपदेश का अर्थ ठीक समझा। मनुष्यों को भी वही अक्षर पढ़ाया गया और जब उनसे पूछा गया कि क्या वे उस शिक्षा का अर्थ समझ गये? तो उन्होंने कहा कि उन्होंने 'द' अक्षर से "दान करो"- यह समझा। प्रजापति ने इस अर्थ को भी ठीक बताया। जब दैत्यों ने प्रजापति से उपदेश के लिये प्रार्थना की "कृपया हमें उपदेश दीजिये" तो प्रजापति

ने उनको वही 'द' अक्षर पढ़ाया और उनसे पूछा कि क्या उनको 'द' अक्षर का अर्थ समझ में आ गया? दैत्यों ने कहा कि 'द' अक्षर से उन्हें "दया करो" - यह अर्थ समझ में आया। प्रजापति ने कहा कि उनको उपदेश का अर्थ ठीक समझ में आ गया। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रजापति ने देवताओं, मनुष्यों तथा दैत्यों को एक ही अक्षर 'द' का उपदेश क्यों दिया जबकि उन्होंने अलग-अलग उपदेश के लिये प्रार्थना की थी? वे यह कैसे समझ पाये कि प्रजापति एक ही अक्षर 'द' से प्रत्येक वर्ग को क्या उपदेश देना चाहते थे? बाबाजी इस उदाहरण से यह बताना चाह रहे हैं कि प्रत्येक प्राणी अपने आपको दोषों से युक्त समझता है। देवता अपने आपको संयम के अभाव में दोषी मानते थे। इसलिये उन्होंने 'द' अक्षर से "अपने आप को नियन्त्रित रखो"- यह समझा। मनुष्यों ने 'द' अक्षर से "दान करो"- यह समझा क्योंकि वे लोभरूप दोष से ग्रस्त थे। दैत्यों को भी अपनी दुर्बलता की पहचान थी। इसलिये उन्होंने 'द' अक्षर से "दया करो" - यह अर्थ समझा। प्रजापति अपने शिष्यों को जानते थे और यह भी जानते थे कि उनमें से प्रत्येक वर्ग 'द' अक्षर से अपनी दुर्बलता को ही समझेगा। 'द' अक्षर प्रत्येक के दोष के शोधक के रूप में संकेतित था और तीनों वर्ग जानते थे कि उनके लिये 'द' अक्षर से क्या अभिप्रेत था? किसी भी व्यक्ति को उसके दोष के निवारण के लिये अधिक कहने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह अपने दोषों के प्रति सजग होता है। जो व्यक्ति इन तीनों गुणों से युक्त होता है वह ध्यान करने के योग्य हो जाता है जो ब्रह्मानुभूति का साधन बन जाता है (181, 496)।

व्यक्ति के चार ऐसे गुण होते हैं जिनके द्वारा वह आत्मा के स्वरूप में स्थित होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है: निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् (भ. गी. 2.45 cd)। उसको राग, द्वेष, प्रेम तथा घृणा आदि से मुक्त होना चाहिये। उसका ध्यान सदा भगवान् में लगा रहना चाहिये। जो उसके पास नहीं है ऐसी किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिये उसमें कोई इच्छा नहीं होनी चाहिये। जो कुछ उसके पास है उसके खोने की चिन्ता से भी मुक्त रहना चाहिये। उसे हमेशा अपनी आत्मा का चिन्तन करते रहना चाहिये। जब उसकी

ऐसी मानस अवस्था हो जाती है तब उसे वेदों में उतनी ही रुचि रह जाती है जितनी किसी व्यक्ति को छोटे जल सरोवर में रहती है जब उसके पास उसके चारों ओर ऐसा जलस्रोत हो जो जल से पूरी तरह आप्लावित हो जैसा कि इस श्लोक में वर्णित है:

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। भ. गी. 2. 46

इसका यह अर्थ है कि जिस व्यक्ति ने सब सांसारिक सम्पत्तियां त्याग दी है और जिसमें वैराग्य उत्पन्न हो गया है उसे अनावश्यक रूप से वस्तुओं को इकट्ठा करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उसे तो केवल इतना चाहिये होता है जितना जीवन के लिये अनिवार्य है। जब व्यक्ति ने आनन्द के समुद्र को प्राप्त कर लिया है तब क्या उसे सांसारिक सुखों की आवश्यकता रहती है? यही तथ्य श्रीमद्भगवद्गीता के ऊपर दिये गये श्लोक से स्पष्ट किया गया है। इच्छा व्यक्ति को बन्धन में डालती है और निष्कामता उसे मुक्त करती है।

मीमांसा विविध कर्मों का विधान करती है तथा विहित कर्मों को करने के लिये प्रेरित करती है परन्तु इसका प्रयोजन व्यक्ति को मुक्ति प्राप्त कराना नहीं है। मीमांसाशास्त्र व्यक्ति के लिये केवल कर्म करने का विधान करता है परन्तु कर्मों के फल की कामना करने अथवा न करने में व्यक्ति स्वतन्त्र है। यदि वह फल की कामना करता है तो बन्धन को निमन्त्रित करता है और यदि फल का त्याग कर देता है तो वह अपने मन को पवित्र करता है, जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अनिवार्य है।

बाबाजी कहते हैं कि हमें इसका निर्णय कर लेना चाहिये कि हम किस कर्म को करें और किस कर्म को न करें। इसके लिये बाबाजी तीन निर्णायक निमित्तों का उल्लेख करते हैं : (1) शास्त्रीय विधान (2) व्यक्ति का अपना अन्तःकरण तथा (3) पूर्वजों के द्वारा अनुष्ठित कर्म। (1) जहां तक शास्त्रों का सम्बन्ध है तो यह संभव है कि शास्त्रीय विधान का तात्पर्य ही समझ में न आये। (2) तथा (3) के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि स्वयं का अन्तःकरण पवित्र ही न हो और

व्यक्ति यह निर्णय ही न कर पाये कि कौनसा कर्म करने योग्य है? इसलिये इस संदर्भ में यह युक्तिसंगत है कि कर्तव्य कर्म के चुनने में हम अपने पूर्वजों के द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुसरण करें। इसका संकेत अग्रिम श्लोक में उपलब्ध होता है :

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। भ. गी. 3. 21.

बाह्य आकाश चिन्ता और दुःख से भरा हुआ है जबकि अन्तराकाश आनन्द से परिपूर्ण है। यदि व्यक्ति आन्तरिक आनन्द का आस्वादन कर लेता है तो बाहर के आकाश में विचरण करने की क्या आवश्यकता है? अन्तराकाश में प्रवेश करने के लिये व्यक्ति को इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण करने के अभ्यास की आवश्यकता होती है। एक दिन के लिये इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने के लिये तो व्यक्ति को उपवास रखना पड़ता है। यदि साधक ने अपने मन तथा इन्द्रियों पर सदा के लिये पूर्ण रूप से नियन्त्रण कर लिया है तो यह प्रक्रिया महाव्रत कही जाती है। देश तथा काल के बन्धन के बिना मन तथा इन्द्रियों पर इस प्रकार के नियन्त्रण का अभ्यास ही महाव्रत कहलाता है। जिस दिन व्यक्ति व्रत रखता है उसको उस दिन सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग आदि का भी अभ्यास करना चाहिये। तभी उपवास सफल होता है।इसके अतिरिक्त यह व्रत भगवान् को प्रसन्न करने के लिये ही करना चाहिये, किसी और प्रयोजन से नहीं।

इस संदर्भ में बाबाजी आन्तरिक अनुभूति का महत्त्व दिखाना चाहते हैं। यदि कोई निम्न वर्ण का व्यक्ति अच्छे भाव से भगवान् शिव की आराधना करता है तो वे उसकी पूजा से प्रसन्न हो जाते हैं। एक जंगल में एक मन्दिर था जहां एक ब्राह्मण शिव की पूजा किया करता था। एक वनवासी ने ब्राह्मण की पूजा देखी और वह भी उसी प्रकार पूजा करना चाहता था। उसके पास जल चढ़ाने के लिये कोई बर्तन नहीं था। इसलिये वह पानी अपने मुंह में भर लेता था तथा उस मुंह में भरे हुए जल को शिवलिंग पर चढ़ा देता था। उसने भगवान् शिव की पूजा हरिण के मांस से की। एक बार उसने रात में भगवान् शिव की पूजा

करते हुए पुष्प के बदले शिवलिंग पर अपने नेत्र की बलि चढ़ा दी। एक दिव्य वाणी ने कहा कि उसकी बलि में कोई दोष नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि भगवान् पर मांस की बलि चढ़ाने के योग्य है। यह घटना आन्तरिक भावना का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिये है। पूजा में आन्तरिक भावना का अत्यधिक महत्त्व है और वह भावना पूजा को सार्थक बनाती है। रावण ने भी अपने सिरों की बलि देकर शिव की पूजा की थी (208-9)।

बाबाजी ने शिव की महिमा की एक और कथा सुनाई। यहां भगवान् शिव के भोलेपन की बात है। एक बार एक चोर मन्दिर का घण्टा चुराने के लिये गया। जब मन्दिर का घण्टा चुराने के लिये वह शिवलिंग पर चढ़ा, तो भगवान् शिव ने यह समझा कि इसने अपने आप को मुझ पर समर्पित कर दिया है और इसके फलस्वरूप भगवान् शिव उसके सामने प्रकट हो गये (209)।

शिवरात्रि की रात को महर्षि दयानन्द को बोध हुआ, परन्तु वे उस समय बालक थे, अतः प्रामाणिक नहीं है। वे नहीं जानते थे कि भगवान् शिव उनको भी शरण देते हैं जो उनसे रक्षा की याचना करते हैं। दयानन्द के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठा कि जो सर्प भगवान् के गले में लिपटा हुआ है उसके द्वारा चूहे का भक्षण कर लिया जाना चाहिये। परन्तु चूहा तो दयानन्द को देख रहा था। चूहा कुतर्क का संकेत करता है जिसकी बलि भगवान् पर चढ़ जाती है। वह श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण जैसी पुस्तकों को भी कुतर देता है क्योंकि इस संदर्भ में उसे नियम ज्ञात नहीं हैं। सर्प संदेह का भी सूचक है 'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता' (रा. च. उत्तरकाण्ड 92 दोहे के बाद तीसरी चौपाई का तीसरा चरण)। रामायण में यह घटना आती है कि यद्यपि गरुड़ सर्प का भक्षण करते हैं तब भी यह कहा गया है कि संशयरूपी सर्प ने उनको डसा। संशयरूपी सर्प ने सती जी को भी डसा था। अब कलियुग है। कुतर्क भगवान् को चढ़ाया जाता है (209)। दयानन्द ने जो टीकाएं लिखी वे तर्क तथा न्याय पर आधारित थीं। उन्होंने अपनी माता से रोटी मांगी और खा ली। उन्होंने रात में उपवास नहीं किया। इसलिये जो लोग आर्यसमाज को मानते हैं वे शिवरात्रि

पर उपवास नहीं करते हैं। स्वामी दयानन्द ने दिन में व्रत रखा था। उसका परिणाम शिवलिंग के दर्शन के रूप में हुआ और वे भगवान् की खोज़ में निकल पड़े (210)। व्यक्ति को कर्म करने का अधिकार है कर्म के फल के प्रति नहीं। कभी-कभी व्यक्ति कर्म करने के लिये विवश होता है। एक व्यक्ति जिसको बन्दी बनाया गया है उसको कारावास में कार्य करना पड़ता है वह कारागार के बाहर के व्यक्ति के समान स्वतन्त्र नहीं है। किसी अपराध के कारण व्यक्ति को जेल जाना पड़ता है और उसका जेल में कार्य करना जेल के नियमों के अनुसार ही निश्चित होता है। वह किसी भी कार्य को करने के लिये जेल में स्वतन्त्र नहीं है (211)। जिसको मुक्ति की कामना है वह कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति को किसी फल को प्राप्त करने के लिये कर्म नहीं करना चाहिये। यह भगवान् ही हैं जो कर्मों के फल देते हैं। सारी इच्छाएं पूरी नहीं होतीं। एक राजा की भी सकल कामनाएं पूर्ण नहीं होतीं। भगवान् भी हम पर तभी प्रसन्न होते हैं जब हम किसी अच्छे उद्देश्य तथा सरल भाव से कर्म करते हैं।

दुष्कर्मों तथा अहंकारयुक्त भाव से किये गए कर्मों से भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं। रामायण में सुतीक्ष्ण की कथा आती है। वह नृत्य करते हुए भगवान् का नाम ले रहा था। कुछ समय बाद वह ध्यान करने बैठ गया। भगवान् राम यह सब कुछ वृक्ष के पीछे से देख रहे थे। उन्होंने सुतीक्ष्ण के हृदय में अपने रूप के स्थान पर भगवान् विष्णु का रूप बदल दिया। सुतीक्ष्ण व्याकुल होकर खड़ा हो गया। आँखें खोलने पर उसने अपने सामने खड़े हुए भगवान् श्रीराम को देखा। इस कथा का संदेश यह है कि अनुभवी तथा महान् आत्माओं को भी यह पता नहीं चलता कि उनके अपने लिये क्या लाभप्रद है, सामान्य जनों की तो बात ही क्या? इसलिये यही उचित है कि कर्मों के फल को भगवान् पर ही छोड़ देना चाहिये। वे ही जानते हैं कि साधक के लिये लाभप्रद क्या है? बाबाजी यहां एक दृष्टान्त देते हैं। एक महात्मा वन में तपस्या कर रहे थे और वे अपने लिये कन्दमूल स्वयं ही लाते थे। उनके शिष्यों ने उनसे प्रार्थना की कि उनके लिये कन्दमूल फल वे लायेंगे। यद्यपि ऋषि को उनकी यह बात अच्छी नहीं लगी फिर भी उनको फल लाने

दिये और स्वयं गुफा में बैठ कर समाधि लगा ली। उनसे इन्द्र भी डरता था। उनकी समाधि भंग करना चाहता था परन्तु कर न सका। भगवान् वहां प्रकट हुए और महात्मा से वर मांगने को कहा। महात्मा को समाधि लगाने का घमण्ड था। इसलिये उन्होंने भगवान् से कहा कि वे उनको वह फल दें जो उन्होंने अपनी तपस्या से अर्जित किया था। उन्होंने महात्मा से कहा वे उतने समय तक पृथिवी में दबे रह कर तथा उसको सिर पर उठा कर बिना प्रकाश के बैठे रहें जितने समय तक उन्होंने पृथिवी पर बैठ कर तपस्या की थी। भगवान् ने कहा कि यह उनकी तपस्या का फल है जो उन्होंने पृथिवी पर बैठ कर सूर्य के प्रकाश में साधना की। सूर्य का प्रकाश तथा पृथिवी दोनों में से कोई भी उनका नहीं था। इसलिये किसी को भी अपनी तपस्या पर अभिमान नहीं करना चाहिये क्योंकि इसका कोई लाभ नहीं है। कहानी का यह संदेश है कि कोई भी यह नहीं जानता कि उसके लिये अच्छा क्या है? भगवान् ही जानते हैं कि साधक के लिये लाभप्रद क्या है?

बाबाजी यहां वे पांच कारण बताते है जो कर्म के आधार हैं :

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चात्र पञ्चमम्।। भ. गी., 18. 14.

आधार, कर्ता, साधन, विभिन्न प्रकार के प्रयत्न तथा भाग्य - ये पांच कर्म के हेतु होते हैं। यदि इन पांच कारणों को हटा दिया जाये तब केवल अहंकार ही आत्मा के साथ शेष रहेगा। यदि इस अहंकार को भगवान् का मान लिया जाता है तब कर्मयोग फलीभूत होता है (213)। यदि कोई तमोगुण के परिणाम अकर्म में आसक्त होता है तो वह आलस्य, लापरवाही तथा निद्रा का शिकार हो जाता है। वह चिन्ता का कारण बन जाता है। जो अज्ञानतावश कर्म नहीं करते उनका अन्धकार के गर्त में पड़ना निश्चित है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया था कि कर्मयोग मोक्ष की आधारशिला है। मुक्ति के पथ पर मुक्ति की ओर यह पहला क़दम है। कर्म का मार्ग कर्म के करने से प्रारम्भ होता है परन्तु धीरे-धीरे निष्काम कर्म की ओर बढ़ जाता है। यह ठीक बालक को खेलने से हटा कर अध्ययन की ओर लगाने

जैसा कार्य है। लिखना तथा पढ़ना प्रारम्भ करने के पश्चात् वह ज्ञान प्राप्त करता है। इसी के लिये माता-पिता प्रोत्साहन देकर बालक को अध्ययन की ओर आकर्षित करते हैं। धीरे-धीरे उसको शिक्षा प्राप्त हो जाती है। जब व्यक्ति सांसारिक इच्छाओं का सर्वथा त्याग कर देता है और निष्काम भाव से कर्म करना प्रारम्भ कर देता है तब वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। निष्काम कर्म उनके लिये होता है जो सांसारिक आवागमन से मुक्ति पाना चाहते हैं। बिना किसी इच्छा तथा आसक्ति के स्वाभाविक रूप से कर्म करना कर्मयोग है। जब एक मधुमक्खी रात में कमल के अन्दर बन्द हो जाती है तब वह आसक्ति के कारण पंखुड़ियों को कुतरती नहीं है यद्यपि वह लकड़ी को भी कुतर सकती है। वह बचने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करती है। जो भी कमल का भक्षण करता है उसका शिकार बन जाती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति आसक्ति में फंसा हुआ है वह अपनी सम्पत्तियों का त्याग करना सोच भी नहीं सकता। वह विवश होकर संसार की वस्तुओं को इकट्ठा करता रहता है और उसके लिये ऐसा संग्रह करना सरल होता है। बाद में एक छोटी से छोटी वस्तु को भी त्यागना कठिन हो जाता है।

भगवान् हमारे अन्तरतम हैं। इसलिये हमें आन्तरिक सजगता के साथ कर्म करने चाहिये। व्यक्ति को धर्म के तात्त्विक स्वरूप की रक्षा करनी चाहिये जो प्रत्येक प्राणी के अन्दर विद्यमान है। बाह्य वस्तुओं का नष्ट होना अधिक महत्त्व नहीं रखता। बाबाजी यहां रघुवंश में आई हुई कथा का उल्लेख करते हैं। राजा दिलीप ऋषि वसिष्ठ के पास गये। ऋषि वसिष्ठ ने उनसे कहा कि सुरभि गाय की सेवा करने से उन्हें पुत्र की प्राप्ति होगी। राजा दिलीप ने दिन-रात सुरभि की सेवा करनी आरम्भ कर दी। 21 दिन के बाद सुरभि ने एक सिंह की उत्पत्ति की ताकि राजा की सच्चाई की परीक्षा की जा सके। सिंह ने सुरभि पर आक्रमण कर दिया। राजा सिंह को मारना चाहते थे लेकिन राजा के हाथ तथा पैर जकड़ गये थे। शेर ने कहा कि भगवान् शंकर ने उसे भेजा है। इसलिये राजा उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। तब राजा ने सिंह से कहा कि वह सुरभि के स्थान पर उसको खा ले। शेर ने राजा से पूछा कि वह अपने सुन्दर शरीर की बलि क्यों देना चाहता है?

राजा ने कहा कि वह धर्म का त्याग नहीं कर सकता। शरीर तो फिर भी अनित्य है। यदि धर्म की रक्षा की जाये तो सबकी रक्षा हो जाती है। राजा दिलीप जैसे मनुष्य अपने जीवन का बलिदान देकर भी धर्म की रक्षा करते हैं। धर्म भगवान् का ही रूप है। कर्म, शक्ति तथा ज्ञान भी धर्म के ही रूप हैं (238)।

यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि हम तब तक कर्मयोग का अभ्यास नहीं कर सकते जब तक हम मन तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण न कर लें क्योंकि इन्द्रियों को वश में करने के पश्चात् ही मन इच्छाओं का त्याग कर सकता है। जब मन प्रेमपूर्वक भगवान् की ओर लग जाता है तब यह कहा जाता है कि व्यक्ति भक्तिमार्ग पर चल रहा है। जब व्यक्ति अपना कर्तव्य कर्म करने के लिये उद्यत होता है या किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को करने जा रहा है तो उसे भगवान् का स्मरण करना चाहिये।

दो विद्याएं होती हैं - परा तथा अपरा। अपरा विद्या अविद्या से थोड़ी उत्कृष्ट होती है। शास्त्रों का अध्ययन करके उससे ज्ञान प्राप्त करना तथा ऐसी पुस्तकें पढ़ना जिनसे व्यक्ति ऐसी विद्याएं सीख ले जो उसमें ऐसी योग्यता पैदा कर दें जिससे वह बिना अधिक परिश्रम किये अपनी जीविका का अर्जन करने में सफल हो सके - यह सब अपरा विद्या का क्षेत्र है (244)। यदि इस प्राप्त किये हुए ज्ञान से इच्छाओं की पूर्ति की जाती है तो यह निकृष्ट कर्म है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है:- दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय (भ. गी. 2.49 प्रथम दो चरण)। लोग धन कमाते हैं और उससे जीवन की सुविधाएं खरीद लेते हैं जिनको वे महत्त्वपूर्ण समझते हैं परन्तु वास्तव में भगवान् ही सर्वोत्कृष्ट तथा वास्तविक सम्पत्ति है। इसीलिये भगवान् अर्जुन को कह रहे हैं कि जीवन को सुविधापूर्वक जीने के लिये विभिन्न सुविधाओं को इकट्ठा करने के लिये जो कर्म किया जाता है वह निकृष्ट कर्म है। यहां बाबाजी ऐसे कर्म की तुलना पशुओं के कर्म से करते हैं क्योंकि इच्छाओं की पूर्ति के लिये जो कर्म किया जाता है वह निकृष्ट कर्म है। लेकिन रैदास, कबीरदास तथा सदन कसाई के द्वारा किये गये कर्म उत्कृष्ट कर्म माने जाते हैं क्योंकि वे सब भगवत्प्रेम में मग्न भक्त

थे। सम्यक्-ज्ञानसहित विद्वानों के द्वारा किया गया कर्म भी निष्काम समझा जाता है (246)।

समाज में उच्च स्थान आध्यात्मिक दृष्टि से निम्न समझा जाता है। दोनों प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने में बुद्धि का उपयोग अनिवार्य है चाहे हमें सांसारिक सुविधाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करना हो या ऐसी जीवन पद्धति के बारे में जो आध्यात्मिक विकास के लिये अनुकूल हो। याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा था कि जिस व्यक्ति को मानवीय शरीर मिला है वह अपनी इच्छाएं पूरी करने के लिये जीता है और आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयत्न नहीं करता तथा यह समझे बिना कि उसका जन्म किसलिये हुआ है अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इच्छाओं में लिप्त व्यक्ति के कर्म तथा अहंकार से युक्त किये हुए कर्म निकृष्ट कोटि के कहे जाते हैं। जहां प्रकृति का मनुष्य पर अधिकार है, वहां भोग है। जहां प्रकृति पुरुष के द्वारा शासित होती है वहां भगवान् है (249)।

सामान्य व्यक्ति तथा आध्यात्मिक ज्ञान के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति में अन्तर मानव तथा पशु के अन्तर के समान है। एक स्वाभाविक कर्म कर्मयोग से सम्बन्धित होता है। परन्तु ऐसा सामान्य कर्म जो सम्यक् ज्ञान के बिना किया जाता है वह निकृष्ट कर्म होता है। बाबाजी कहते हैं कि कर्मयोग ज्ञानयोग का प्रतिबिम्ब होता है जैसे जीवात्मा को ब्रह्म का अंश (प्रतिबिम्ब) माना जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कर्मयोग ज्ञानयोग का ही हिस्सा है। इसलिये कर्मयोग ज्ञान की प्राप्ति में बाधक नहीं बनता है (250)। यही कारण है कि विभिन्न प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिये शास्त्रों के द्वारा विहित कर्म निकृष्ट कर्म (अवर कर्म) कहे जाते हैं। बाबाजी यहां अपने जीवन का उदाहरण देते हैं कि उन्होंने वह एक पात्र भी त्याग दिया था जो साधु लोग पानी रखने के लिये रखते हैं क्योंकि उन्होंने यह समझ लिया था कि जल के लिये पात्र रखने की क्या आवश्यकता है जब पानी सब स्थानों पर उपलब्ध होता है? इस प्रकार के संन्यास का जीवन एक आश्चर्य है। लोग समानता का अर्थ पृथक्-पृथक् समझते हैं। एक साधु गंगा के बालू वाले किनारे पर गाँजा पी रहा था। बाबाजी

ने उस साधु से पूछा कि वह ऐसा क्यों कर रहा है? उसने बाबाजी से कहा कि क्या उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता का वह प्रसंग नहीं पढ़ा जहां समत्वयोग का उल्लेख किया गया है? बाबाजी ने उससे कहा कि हमें उन शास्त्रों का अनुसरण करना चाहिये जो यह कहते हैं कि गाँजा नहीं पीना चाहिये। यह समानता थोड़े ही होती है कि जो हमें मिल जाए हम उसी का प्रयोग करने लगें। भावनाओं में समत्व देखा जा सकता है परन्तु खाने-पीने की वस्तुओं में समानता नहीं देखी जाती है। प्रत्येक वस्तु को नहीं खाना चाहिये। हां, यह हो सकता है कि अलौकिक शक्तियों के सहयोग से कुछ भी खाया जा सकता है परन्तु सामान्य जन के लिये यही सलाह है कि वे सफलता तथा असफलता की बातों में समानता की दृष्टि न रखें।

एक भक्त ने कहा कि श्रीमद्भगवद्गीता के वक्ता तथा श्रोता दोनों गृहस्थी थे। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता गृहस्थियों के लिये है। बाबाजी ने कहा श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश देने वाले पूर्व जीवन में संन्यासी थे। नर नारायण तथा बाद में बुद्ध के रूप में अवतार यह प्रदर्शित करता है कि भगवान् संन्यासी तथा तपस्वी थे। हां, श्रीमद्भगवद्गीता को लिपिबद्ध करने वाले व्यास गृहस्थी थे। ऐसा होने पर भी उनके पुत्र शुकदेव संन्यासियों के लिये भी आदर्श थे और व्यास स्वयं सत्य के ज्ञाता थे। श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश देने वाले तथा उसके श्रोता दोनों क्षत्रिय थे लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि श्रीमद्भगवद्गीता ब्राह्मणों के लिये नहीं है। भगवान् संन्यासियों को भी उपदेश दे सकते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का उद्देश्य है कि मनुष्यों को सामान्य कर्मों से हटाकर ऐसे विशेष कर्मों में लगाया जाये कि जो साधक श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित मार्ग पर चलता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर ले।

श्रीमद्भगवद्गीता सबके लिये है (270-1)। जो व्यक्ति ज्ञान के मार्ग पर चलता है वह अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग कर देता है। इस का अर्थ यह है कि वह उस कर्म को करता है जो उसके सामने स्वाभाविक रूप से उपस्थित हो जाता है। चाहे वह कर्म पूजा करने का हो या जूते बनाने का (271)। इस संदर्भ में बाबाजी ने गुरु रामदास से सम्बन्धित एक घटना सुनाई जिनके गुरु अमरदास थे।

गुरु रामदास ने अपने दो शिष्यों से एक चबूतरा बनाने को कहा। जब शाम को चबूतरा बन कर तैयार हो गया तब गुरु रामदास ने कहा कि वह चबूतरा ठीक नहीं बना। इसलिये दुबारा उसका निर्माण किया जाये। दूसरे दिन भी गुरु रामदास चबूतरे के निर्माण से सन्तुष्ट नहीं थे। तीसरे दिन भी जब वे चबूतरे के निर्माण से संतुष्ट नहीं हुए तो उनमें से एक शिष्य ने परेशान होकर कहा कि यह चबूतरा कभी बन ही नहीं सकता। गुरु रामदास ने उससे कहा कि वह कोई और काम करे लेकिन दूसरा शिष्य चबूतरे की स्थिति को और अधिक सुधारने में लग गया यद्यपि प्रतिदिन गुरु रामदास कोई न कोई कमी निकाल देते थे। गुरु रामदास दूसरे शिष्य के व्यवहार से प्रसन्न थे। उन्होंने कहा कि जो व्यक्ति आत्मसमर्पण की भावना से कर्म करता है वह कर्म से उत्पन्न बन्धन से मुक्त हो जाता है। अन्ततोगत्वा कोई भी कर्म अपने आप में मुक्ति का हेतु नहीं होता। केवल भगवान् की कृपा ही होती है जिससे साधक भगवान् के दर्शन प्राप्त कर लेता है। जो शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन करता है वह ज्ञानमार्ग का अनुसरण करता है (272)।

समाज में गन्दे कपड़े पहने हुए व्यक्ति को किसी स्थान में प्रवेश करने से रोक दिया जाता है लेकिन भगवान् तक पहुंचने का अधिकार प्राप्त करने लिये मन की पवित्रता अनिवार्य होती है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति भगवान् को प्राप्त करना चाहता है उसे सब इच्छाओं का त्याग कर देना चाहिये। इसलिये वह साधक जो ज्ञानमार्ग पर चल रहा है उसे मन की पवित्रता पर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिये और इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि कोई कर्म तात्त्विक रूप अच्छा है या बुरा।

श्रीराम ने गिद्ध से कहा, "अपने कर्मों से तुमने सद्गति प्राप्त कर ली है लेकिन कर्मों से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।" यहां पर गति का अर्थ मुक्ति नहीं है। यह सारूप्य मुक्ति है, कैवल्य मुक्ति नहीं। इच्छा रथ है जबकि कर्म उसके लिये लगाम का काम करते हैं। जो लोग इच्छा और कर्म इन दोनों से बंधे होते हैं वे सांसारिक होते हैं परन्तु जो इच्छाओं तथा कर्मों से मुक्त होते हैं वे शुद्ध चित्त के धनी होते हैं। जो साधक कर्मों के फल का त्याग कर देते हैं और स्वाभाविक रूप से कर्म

करते हैं वे ज्ञानमार्ग का अनुसरण करते हैं। कर्मों के फल से न बंधना ही कर्म करने में कौशल माना जाता है।

बाबाजी श्रद्धा तथा विवेक में भेद बताते हैं। श्रद्धा अन्धी हो सकती है क्योंकि जहां श्रद्धा होती है वहां विवेक का अभाव होता है। जो व्यक्ति विवेकसम्पन्न होता है उसमें श्रद्धा का होना आवश्यक नहीं है।जब श्रद्धालु व्यक्ति प्रेम करने लगता है तब उसमें मुक्ति के मार्ग पर चलने का सामर्थ्य आ जाता है। यदि विवेक से सम्पन्न व्यक्ति की उत्सुकता शान्त हो जाती है तो उसका विवेक दृढ़ हो जाता है। वह यह दृष्टिकोण अपना सकता है कि दिशा होती ही नहीं क्योंकि जब हिमालय पर पहुंचता है तब उत्तर दिशा और दूर चली जाती है। इससे यह ज्ञान होता है कि दिशा का वास्तव में अस्तित्व नहीं है (284)। तर्क करना ठीक है परन्तु कुतर्क का अनुमोदन नहीं किया जा सकता। न्याय तथा तर्क का उपयोग सत्य तक पहुंचने के लिये किया जा सकता है। शक्ति तथा नीति का युगल होता है और यदि वे दोनों परस्पर मिलकर ध्येय तक पहुंचने में सहायक होती हैं तो यह अच्छी बात है। ठीक इसी प्रकार अर्थ तथा काम और धर्म तथा मोक्ष का युगल बनता है। इसलिये परस्पर एक दूसरे के अनुकूल बना कर इन दोनों का उपयोग किया जाना चाहिये। जैसे ज्ञान तथा मोक्ष का युगल है। वैसे ही धर्म तथा काम और धर्म तथा मोक्ष का जोड़ा बनता है। एक दूसरे के साथ सामञ्जस्य बना कर इनका उपयोग करना चाहिये।

जो व्यक्ति प्रेम से लबालब भरा हुआ है और कामना से रहित है उसका अन्तःकरण सन्तुलन से सम्पन्न होता है। यह बुद्धियोग की श्रेणी में आता है। श्रीमद्भगवद्गीता हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में योगमार्ग पर चलने का पाठ पढ़ाती है। बाबाजी गंगाजी का एक हृदयस्पर्शी दृष्टान्त देते हैं। समुद्र की ओर बहने वाली गंगाजी की प्रत्येक व्यक्ति पूजा करता है परन्तु गंगाजी से निकाली हुई नहर के प्रति किसी भी व्यक्ति की श्रद्धा नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि समुद्र (भगवान्) की ओर बढ़ने वाली गंगाजी की मुख्य धारा श्रद्धास्पद होती है। गंगाजी से निकलने वाली नहर में गंगाजी का ही पानी होता है तब भी इसके प्रति किसी की श्रद्धा नहीं होती, भले ही यह अधिक पानी

वाली हो क्योंकि यह भगवत्सदृश समुद्र की ओर न जाकर कहीं और जा रही है।

संन्यासी के लिये धर्म ही भगवान् है और संन्यासी को कभी भी धर्म का त्याग करने लिये नहीं कहा गया है। यदि योग तथा ज्ञान साधक को भगवान् तक पहुंचने में सहायता नहीं करते हैं तो वास्तव में वे योग और ज्ञान हैं ही नहीं । अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव करने का कोई भी साधन वास्तविक रूप से साधन माना जाना चाहिये जब वह मुमुक्षु साधक को आध्यात्मिक मार्ग पर बढ़ने में सहायता करता हो। जब भगवान् भक्त को सब कर्तव्य समर्पण करके अपनी शरण में आने को कहते हैं, अपने लिये अपना मन समर्पित करने को कहते हैं तथा अपनी पूजा करने के लिये कहते हैं तब इसका अर्थ यह नहीं है भक्त आवश्यक रूप से समस्त सामाजिक तथा सांस्कृतिक कर्तव्यों का त्याग कर दे। जब साधक का मन भगवान् में ऐसे लग जाये जैसे एक पतिव्रता नारी का मन अपने पति में लगा रहता है तब उस साधक को वास्तविक रूप से भगवान् की ओर समर्पित समझा जाना चाहिये।

हमें किसी भी वस्तु का धोखे से अवमूल्यन नहीं करना चाहिये। बाबाजी इसका उदाहरण देते हैं। एक किसान को एक हीरा मिला परन्तु वह उसका मूल्य नहीं जानता था। उसने उस हीरे को अपने हल के अग्रिम भाग पर बांध दिया था ताकि वह चमक सके। एक जौहरी ने उसको देखा और चार रुपये में उसे खरीद लिया तथा बहुत सावधानी से एक स्वर्ण के बने हुए डिब्बे में रख दिया। परन्तु उस स्वर्णिम डिब्बे में वह हीरा टूट गया। तब एक आकाशवाणी हुई। वह कह रही थी कि जौहरी ने जानबूझ कर उस हीरे का सही मूल्य नहीं आंका और उसका अवमूल्यन करके उसे चार रुपये में खरीदा। इससे हीरे का हृदय टूट गया। इसलिये किसी भी वस्तु का अवमूल्यन नहीं करना चाहिये। इससे किसी का भला नहीं होता। किसी भी कर्म का वास्तविक फल भगवान् के प्रेम की प्राप्ति है। भगवान् जगन्नाथ के प्रसाद का मूल्य आंका नहीं जा सकता। भगवान् बदरीनाथ का प्रोञ्छन संस्कार एक वस्त्र के टुकड़े से किया जाता है जो प्रसाद के रूप

में दिया जाता है। संसार की कोई अत्यधिक मूल्यवान् वस्तु इसके मूल्य की बराबरी नहीं कर सकती क्योंकि इससे भगवान् बदरीनाथ की प्रतिमा को पोंछा गया है।

मनुष्य वैराग्य तथा संन्यास से शान्ति प्राप्त करता है। कणाद, कपिल, वसिष्ठ आदि के भिन्न-भिन्न दार्शनिक मत हैं लेकिन सभी की एक बात पर सहमति है कि वैराग्य तथा संन्यास से मन पवित्र होता है और जब मन पवित्र हो जाता है तब उसमें परम सत्य प्रकाशित होता है तथा साधक सत्य को ऐसे जान लेता है जैसे हाथ पर रखे हुए आंवले को व्यक्ति जान लेता है (304)। जो व्यक्ति भगवान् से सम्बन्धित प्रवचन को सावधानी से सुनता है और भगवान् के द्वारा बताई गयीं बातों के अनुसार अपने जीवन का निर्वहन करता है वह आसक्ति से मुक्त हो जाता है और उसके मन में पवित्रता आ जाती है। ऐसा व्यक्ति ज्ञानसम्पन्न हो जाता है। वह व्यक्ति सदा अन्तर्मुखी रहने का इच्छुक हो जाता है। यहां बाबाजी 'निर्वेद' शब्द का अर्थ बताते हैं - मन का बहिर्मुखी प्रवृत्ति से मुक्त होना (304)।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।। भ. गी., 2.52

यदि विषाद की स्थिति से वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है तो यह अच्छा माना जाता है। परन्तु सत्य की अनुभूति तब तक नहीं होती जब तक मन आसक्ति तथा मोह से ग्रस्त रहता है। यदि गले में रोग है तो अच्छी बनी हुई खीर का भी ठीक से आस्वादन नहीं किया जा सकता। बाबाजी इस प्रसंग में एक घटना बताते हैं: एक बार बाबाजी ग्वालियर गये थे। वहां एक औरत बाबाजी को भोजन कराना चाहती थी। बाबाजी औरत के द्वारा परोसे हुए भोजन का ठीक से आस्वादन नहीं कर पाये क्योंकि उसमें लाल मिर्च अधिक थी जो बाबाजी को कष्ट पहुंचा रही थी। औरत ने कहा कि उसने खाने में लाल मिर्च का उपयोग नहीं किया। लेकिन बाबाजी आराम से भोजन नहीं कर पाये क्योंकि उनकी जीभ में छाला था। इस घटना के वर्णन का उद्देश्य यह समझाना है कि यदि व्यक्ति भय आदि की मानसिक अवस्था से पीड़ा

(विषाद) का अनुभव कर रहा है तो सांसारिक भोग भी उसे अच्छे नहीं लगते। एक बार किसी व्यक्ति ने राजा जनक से पूछा कि क्या वे अपने ज्ञान की अवस्था के कारण भोग में आसक्त नहीं हैं? राजा जनक ने उत्तर दिया कि यदि किसी व्यक्ति के सिर पर तलवार लटक रही है तो वह व्यक्ति स्वादिष्ट भोजन के स्वाद का अनुभव नहीं कर पायेगा। उन्होंने आगे कहा कि वे सदा मृत्यु का स्मरण करते हैं। इसलिये वे राजसी भोग में आसक्त नहीं होते। सांसारिक भोगों से दूर रहने के लिये व्यक्ति को सदा मृत्यु का ध्यान रखना चाहिये। भगवान् सत्य, शिव तथा सुन्दर हैं। इसलिये उन्होंने अर्जुन पर विषाद की छाया डाल दी। भगवान् का यह विषाद का पर्दा शिव तथा सुन्दर के लिये है जिससे श्रीमद्भगवद्गीता की उत्पत्ति हुई (306)। श्रीकृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं और संजय धृतराष्ट्र को कह रहा है। विषाद के बिना अर्जुन के मोहरूपी पाप को बताना उचित नहीं होता लेकिन धृतराष्ट्र के प्रसंग में मोहकलिल को कहना अनुचित नहीं था क्योंकि वह भीतर तथा बाहर दोनों चक्षुओं से अन्धा था।

बाबाजी ने बिना नाम लिये एक विद्वान् का उल्लेख किया। विद्वान् के पिताजी कभी-कभी उसे मूर्ख कहते थे। यह सुनकर विद्वान् को क्रोध आ गया और वह विद्वेषरूपी पाप में फंस गया। उसने यह निश्चय कर लिया कि रात में चुपके से माता-पिता को मार देगा। उसके माता-पिता रात में यह विचार कर रहे थे कि अपने पुत्र को अहंकार की दल-दल से कैसे बाहर निकाले? पुत्र ने माता-पिता का यह विचार-विमर्श सुना। यह सुनकर वह माता-पिता के प्रति विद्वेष की भावना से मुक्त हो गया और पिता के पैरों में गिरकर क्षमा मांगी। माता-पिता ने उसे पश्चाताप करने के लिये बारह साल के लिये ससुराल भेज दिया। वहां वह तपोमय जीवन व्यतीत करके साधु बन गया तथा एक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। वास्तव में मोह से छुटकारा पाना ही मुक्ति है। जब व्यक्ति का मन पवित्र हो जाता है तब वैराग्य की अवस्था प्राप्त होती है (307)। कभी-कभी तपस्या तथा संन्यास से घमण्ड हो जाता है। मैं यहां बाबाजी के 'बदरीशस्तवनम्' से एक श्लोक उद्धृत करना चाहता हूं जो इस प्रसंग के अनुकूल है:

कर्मादिदोषदहनो दुरिताय चाग्निः
अन्तःप्रमादप्रभवे तमसेऽस्ति सूर्यः।
ज्ञानोष्णताप्रशमनः परमो हिमांशुः
सोऽसौ प्रकाशयतु वै हृदयेऽस्मदीये।। बदरीशस्तवनम्, 8.

"कर्मादि से उत्पन्न दोष तथा भक्तों के पाप को जलाने के लिये आप अग्नि हैं। आन्तरिक प्रमाद से उत्पन्न अन्धकार के लिये आप सूर्य हैं। ज्ञान से उत्पन्न उष्णता को शान्त करने के लिये आप उत्कृष्ट चन्द्रमा हैं। ऐसे प्रभु आप हमारे अन्तःकरण में प्रकाशित हों।" जब घमण्ड हमारे मन से दूर हो जाता है तो हमारा मन पवित्र हो जाता है। थोड़ी सी तपस्या करने के पश्चात् किसी फल की कामना करना चरित्र की दुर्बलता है। जब महात्माओं की संगति से व्यक्ति को यह रहस्य पता चलता है तब वह वैराग्य से सम्पन्न हो जाता है और वह आध्यात्मिक ज्ञानप्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ने लगता है तथा इच्छाओं से सर्वथा मुक्त हो जाता है (307)। सीखने मात्र से काम नहीं चलता। व्यक्ति जो सीखता है उसे जीवन में उतारना चाहिये, उसको व्यवहार में उतारने का सतत अभ्यास करना चाहिये। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हमें ज्ञान तथा व्यवहार के अन्तर को लगातार धीरे-धीरे कम करते रहना चाहिये।

हमें निकम्मे होकर बैठना नहीं चाहिये। प्रत्युत हमें सदा अच्छे कर्म करते रहना चाहिये नहीं तो हम तमोगुण से ग्रस्त हो जायेंगे। साधक को कर्तव्यबुद्धि से कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिये। इसी को कर्मयोग कहते हैं। शान्त तथा प्रकृतिस्थ व्यक्ति कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल का त्याग कर देते हैं क्योंकि कर्मफल बन्धन का कारण होता है। सांसारिक दृष्टिकोण से शिक्षा अच्छी होती है परन्तु मोहरूपी पाप से मुक्त होना उससे भी अधिक अच्छा है। जब जीव परम चैतन्य को प्राप्त कर लेता है तब यह कहा जा सकता है कि उसने आध्यात्मिक मार्ग का तत्परता तथा समर्पण भाव से अनुसरण किया है। बाबाजी कहते हैं कि वेद इच्छाओं की पूर्ति के लिये यज्ञ तथा इष्टियों का विधान करते हैं ताकि लोग उनकी ओर आकृष्ट हों। ठीक उसी प्रकार से जैसे

एक आकर्षक पारितोषिक का आश्वासन देकर बालक को शिक्षा की ओर आकृष्ट किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि शास्त्र के अनुसार विहित कर्म करने से व्यक्ति के उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रों में प्रतिपादित आध्यात्मिक सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट हो जाने की संभावना हो जाती है।

बाबाजी कहा करते थे कि ऐसा ज्ञान जो व्यवहार में उतारा नहीं जाता है वह बोझ हो जाता है। प्यास तभी बुझती है जब पानी पिया जाता है। इसी प्रकार शास्त्रों से सीखा हुआ सिद्धान्त यदि अभ्यास से व्यवहार में उतारा जाता है तो जिस व्यक्ति ने इस प्रकार का अभ्यास किया है वह उसको तृप्ति प्रदान करता है। पुस्तकों से अधिक लाभ नहीं होता यदि अध्येता विवेकबुद्धि सम्पन्न न हो (यस्य नास्ति स्वयंप्रज्ञा शास्त्रं किं करिष्यति)। यदि कोई व्यक्ति पुस्तकों से जो कुछ पढ़ा है उसे बिना विचार करके स्वीकार कर लेता है तो वह सत्य की ओर ले जाने वाले मार्ग का अनुसरण कैसे करेगा? यदि बाबाजी किसी आध्यात्मिक सिद्धान्त को समझाने के लिये श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या नूतन प्रकार से करते हैं और इस पर कोई व्यक्ति यह प्रश्न उठाता है कि गीताजी में तो ऐसा नहीं कहा गया है तो प्रश्न करने वाले ने साक्षात्कारसम्पन्न व्यक्ति द्वारा की गई व्याख्या के तात्पर्य को समझने के लिये अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं किया है और इस तरह वह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण संदेश से वञ्चित रह जाता है। यह एक सामान्य तथ्य है कि लोग उस बात को असत्य मानते हैं जिसको ठीक ढंग से समझा नहीं गया है (311)।

बाबाजी ने शरीर के प्रति आसक्ति की निरर्थकता को समझाने के लिये गोपीचन्द की कहानी सुनाई। एक बार कुछ स्त्रियां गोपीचन्द को स्नान करा रही थीं तथा साथ ही साथ सुगन्धित द्रव्य का लेप भी लगा रही थीं। मां (बुद्धि) शरीर को स्नान कराते हुए तथा उस पर सुगन्धित द्रव्य का लेप लगाते हुए देख रही थी। यह सोच कर मां आंसू बहाने लगी कि जिस शरीर को साबुन से नहलाया जा रहा है तथा जिस पर इतनी सावधानी से सुगन्धित द्रव्य का लेप किया जा रहा है वह शरीर मृत होने पर अग्नि को समर्पित कर दिया जायेगा। यह एक कहानी भी

है और एक दृष्टान्त भी। इसी प्रकार रामायण भी एक इतिहास है और दृष्टान्त भी। यह देखकर कि मन शरीर के प्रति आसक्ति में फंसा हुआ है तो बुद्धिरूपी मां रोने लगी। जब मनरूपी गोपीचन्द ने बुद्धि-मां से पूछा तब बुद्धि ने बताया कि इन सब विषयों के आधार तुम हो। जिस शरीर को इतने ध्यान से नहलाया जा रहा है तथा सुगन्धित किया जा रहा है वह एक दिन अग्नि को सौंप दिया जायेगा। यह सुनकर गोपीचन्द को शरीर तथा उससे सम्बन्धित वस्तुओं से वैराग्य हो गया।

आध्यात्मिक ज्ञान को अभ्यास से आत्मसात् करने के लिये बाबाजी ने छान्दोग्य उपनिषद् से एक कहानी सुनाई। श्वेतकेतु एक ब्राह्मण बालक था। उसके पिता ने शास्त्रों का अध्ययन करने के लिये गुरु के पास भेजा। उसने वेद तथा वेदान्त का अध्ययन किया और घमण्डी हो गया। उसके पिता ने पूछा, "तुमने ऐसा क्या पढ़ा है जिससे तुम्हें इतना घमण्ड हो गया है? क्या तुम उस वस्तु को जानते हो जिसके ज्ञान से और सब कुछ जान लिया जाता है?" श्वेतकेतु ने कहा कि हो सकता है कि उसके गुरु को उस चीज़ का ज्ञान न हो। परा विद्या अपरा विद्या से उत्कृष्ट होती है। अपरा विद्या में वेद, वेदान्त आदि होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करना अपरा विद्या में आता है। लेकिन यदि कोई श्रीमद्भगवद्गीता में जो लिखा है उसका गम्भीरता से अभ्यास करके जीवन में उतारता है तो श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन उसे परा विद्या की ओर ले जाता है। शास्त्रों के अध्ययन के साथ उनसे जो सीखा जाता है उसको अभ्यास करके व्यवहार में उतारना चाहिये। अध्ययन तथा अभ्यास का एक युगल है। परस्पर सामञ्जस्य के साथ दोनों का क्रियान्वयन करना चाहिये।

अब बाबाजी उस साधक की अवस्था पर प्रवचन करते हैं जिसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है अर्थात् जिसका मन शान्त हो गया है। जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है उसके विषय में जिज्ञासा स्वाभाविक होती है। वह कैसे बैठता है? वह कैसे चलता है? वह कैसे बोलता है? अर्जुन को पार्थ नाम से सम्बोधित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उस व्यक्ति की अवस्था तथा आचरण के विषय में बताते हैं जिस व्यक्ति

का मन शुद्ध, पवित्र तथा इच्छारहित हो गया है। बाबाजी पार्थशब्द का महत्त्व बताते हैं। पृथा कुन्ती के बचपन का नाम था। बाल्यावस्था निष्कपटता तथा सरलता का सांकेतिक ज्ञान कराती है। बच्चा सर्वथा अत्यन्त सरल, कामनारहित तथा लोभरहित होता है। पार्थ नाम से अर्जुन को सम्बोधित करके भगवान् उसे बताना चाहते हैं कि उसको बालक के समान निष्काम, सीधा तथा मासूम होना चाहिये। यद्यपि बचपन में इच्छाएं सुप्त रहती हैं तथापि वे युवावस्था में जाग्रत् हो जाती हैं। यहां बाबाजी एक बालक तथा सिद्ध पुरुष में अन्तर समझाते हैं। ज्ञान प्राप्त करने के बाद जो लोग उद्विग्नता से रहित होते हैं वे स्थितप्रज्ञ होते हैं जबकि वे लोग जो अज्ञान की अवस्था में शान्त रहते हैं वे बालकों की तरह होते हैं। जो अपने आप में सन्तुष्ट रहता है और सन्तोष के लिये किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता उसकी बुद्धि स्थिर होती है। उसको सन्तुष्ट होने के लिये यश, प्रशंसा आदि की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह अपने आप में संतुष्ट रहता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि धन धन के लिये प्रिय नहीं होता प्रत्युत आत्मा के लिये प्रिय होता है क्योंकि जब आपत्ति आती है तब हम धन को भी त्याग देते हैं। इससे यह ज्ञान होता है कि आत्मा सर्वाधिक प्रिय है। जब कोई व्यक्ति भूखा होता है तो भोजन मिल जाने पर संतुष्ट हो जाता है। जब व्यक्ति की इच्छाएं पूरी हो जाती हैं तो वह संतुष्ट हो जाता है। यदि व्यक्ति बाह्य वस्तुओं के बिना अपने आप में तृप्त रहता है तो यह समझ लेना चाहिये कि उस व्यक्ति को आनन्द की प्राप्ति हो गई है। इच्छाओं की पूर्ति होने पर प्रसन्नता होती है जबकि आनन्द स्वाभाविक है। उसको किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती।

जो व्यक्ति स्थितप्रज्ञ होता है उसमें कोई लोभ नहीं होता। राजा रघु ने संसार पर विजय प्राप्त कर ली थी और अत्यधिक सम्पत्ति प्राप्त की जिससे यह संकेत मिलता है कि राजा रघु लोभी थे। लेकिन ऐसा नहीं था क्योंकि उन्होंने विश्वजित् यज्ञ किया और सारे जीते हुए राज्य सम्बन्धित राजाओं को वापिस कर दिये तथा पहले से भी अधिक सम्पत्ति देकर उनको विदा किया। श्रीराम ने भी युद्ध किया था

जिससे यह संकेत मिलता है कि वे लोभग्रस्त थे परन्तु उन्होंने लंका के राज्य को स्वीकार नहीं किया था। राजा रघु तथा श्रीराम ने युद्ध किया क्योंकि ऐसा करना उनका कर्तव्य था। राजा रघु, श्रीराम तथा राजा जनक ने अन्त में सब कुछ त्याग दिया था। इसी प्रकार गृहस्थ को भी सब इच्छाएं त्याग देनी चाहिये ताकि वह स्थिर प्रज्ञा को प्राप्त कर सके। स्थितप्रज्ञ का पहला लक्षण यह है कि वह सारी इच्छाओं को त्याग देता है और अपने आप में संतुष्ट रहता है। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति समाधि प्राप्त कर लेता है परन्तु उसकी सारी कामनाएं समाप्त नहीं हुई हैं तो उस व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इच्छा से ही तो मोह उत्पन्न होता है।

बाबाजी इच्छाओं की तुलना मक्खियों से करते हैं और कहते हैं कि इच्छाएं मक्खियों से भी अधिक तंग करती हैं क्योंकि मक्खियां तो रात में सो जाती हैं परन्तु इच्छाएं नहीं। ऐसा मन जिसमें तीव्र इच्छाएं होती हैं वह शत्रु से भी अधिक दुःख देने वाला होता है। कामनाएं धधकती आग के समान होती हैं जो सब कुछ भस्म कर देती हैं। संसार के समस्त सुख व्यक्ति को शान्ति नहीं दे सकते जितना कि एक शान्त मन व्यक्ति को शान्ति दे सकता है।

जो कुछ स्वाभाविक रूप से उपलब्ध हो जाता है व्यक्ति को उसी से संतुष्ट रहना चाहिये। नैतिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए हमें अपनी जीविका का अर्जन करना चाहिये। तीन प्रकार के लोग होते हैं: 1. जो कर्म तो करते हैं परन्तु उनके बारे में कुछ नहीं कहते। वे कर्मयोगी होते हैं और नैतिक सिद्धान्तों का पालन करते हैं। 2. जो कर्म तो करते हैं परन्तु साथ ही उनका बखान भी करते हैं। उनके मन में इच्छाएं होती हैं। वे कर्मयोगी से निकृष्ट होते हैं। तथा 3. जो कुछ वे कहते हैं उसे नहीं करते। ऐसे लोग धोखेबाज़ होते हैं। जो दूसरों से धन छिपाते हैं उनमें इच्छाएं होती हैं। जो ऐसे धन का उपयोग करते हैं जो दूसरों के द्वारा उपयोग किये जाने पर बच गया है वे कर्मयोगी होते हैं। ऐसे लोग विरले ही होते हैं और वे अपने आप में संतुष्ट रहते हैं। ऐसे लोगों का मन विचलित नहीं होता है। जिस साधक ने आत्मानन्द को प्राप्त कर लिया है उसे अपनी तृप्ति तथा संतोष के लिये

किसी भी सांसारिक वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। उसमें असीम शान्ति होती है। वह शान्ति तथा आनन्द के समुद्र में गोते लगाता है। जिस व्यक्ति ने आत्मा के आनन्द का अनुभव कर लिया है वह कभी भी सांसारिक पदार्थों को भोगना नहीं चाहेगा। जो तृप्ति ऐसे व्यक्ति के द्वारा अनुभूत होती है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता जैसे गूंगे के द्वारा गुड़ के माधुर्य का वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार आत्मा के जिस आनन्द का अनुभव व्यक्ति को होता है उसका भी वर्णन नहीं किया जा सकता। इच्छाओं का सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से होता है। यदि किसी व्यक्ति को सुन्दर वस्तु दिखाई देती है तो वह उसे दुबारा देखना चाहता है। यह बात संसार के प्रत्येक पदार्थ पर लागू होती है। एक व्यक्ति अपना सारा जीवन केवल रोटी, चावल. दाल, सब्ज़ियों आदि से व्यतीत कर सकता है परन्तु उनको स्वादिष्ट बनाने के लिये अचार आदि की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि यह इच्छा जिह्वा के कारण उत्पन्न होती है। यदि व्यक्ति सब इच्छाओं का त्याग कर देता है और यह प्रयत्न करता है कि वह अपने आप में संतुष्ट रहे तो वह व्यक्ति आध्यात्मिक मार्ग पर चल रहा है। बाबाजी यहां महाराणा प्रताप की बेटी का उदाहरण देते हैं। उसे एक रोटी मिली। उसने आधी रोटी एक भाई को दे दी और दूसरी आधी रोटी दूसरे भाई को दे दी। यह आत्मसंतोष कहा जाता है। यह आसक्ति के कारण हो सकता है क्योंकि वे दोनों उसके भाई थे लेकिन यदि यह रोटी किसी अभ्यागत को दी जाती तो निश्चित रूप से इसे वास्तविक संतोष कहा जा सकता था। जो आनन्द दूसरे व्यक्ति को भोजन कराने पर आता है वह आनन्द अलौकिक होता है।

यदि विषय हमारे पास आयें तो भी हमें उनकी कामना नहीं करनी चाहिये क्योंकि यदि विषय नहीं मिलेंगे तो हमें दुःख होगा। जो इस बात पर मनन करता है वह मुनि है। जो व्यक्ति निष्काम कर्म करता है और 'ओम् तत्सत्' का ध्यान करता रहता है वह मुनि है। जो व्यक्ति स्थितप्रज्ञ की अवस्था समझता है और इसको प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है वह मुनि है। जो अवस्था मानसिक उद्वेग उत्पन्न कर सकती है उस अवस्था को जो संयम से सहन कर लेता है वह मुनि

है। जब श्रीराम ने यह सुना कि राज्याभिषेक के स्थान पर उनको वन जाना पड़ रहा है तो वे उद्विग्न नहीं हुए। जब उन्होंने यह सुना था कि उनका राज्याभिषेक होने जा रहा है तो वे बहुत प्रसन्न भी नहीं हुए। वे यह विचार कर रहे थे कि यह ठीक नहीं है कि उनको अकेले ही राज्याभिषेक के लिये चुना और उनके भाइयों को नहीं। धन सम्पत्ति उस व्यक्ति के पास जाती है जो उसकी कामना नहीं करता है। इस संसार में प्रत्येक वस्तु उस महात्मा के पास जाती है जो सम्मानित होने पर अत्यधिक प्रसन्न नहीं होता और दुःख प्राप्त होने पर विचलित नहीं होता। सम्पत्ति इस संसार में ऐसी चीज़ है जो उसके पास जाती है जो उसकी कामना नहीं करता।

यदि नदी में पानी कम हो तो उसको पार किया जा सकता है। इसी तरह वह व्यक्ति जिसके मन में बहुत कामनाएं नहीं हैं, आवागमन के संसार को पार कर सकता है। यदि इच्छा नहीं है तो मन भी नहीं है। जब मन का अस्तित्व नहीं रहता तब व्यक्ति अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता है : स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते (भ. गी. 8.3b)। इच्छा जड़ तथा चेतन के बीच की ग्रन्थि है। भगवान् ने हमारे लिये कर्मयोग का विधान किया है ताकि उसकी सहायता से हम इच्छाओं पर नियन्त्रण पा लें या उनसे मुक्ति प्राप्त कर लें। अपने आप में संतुष्ट रहने का अर्थ है भगवान् में ध्यान लगाना, इन्द्रियों के विषयों पर निर्भर रहने की बजाय अपने आप पर निर्भर रहना। जो सुख हमें इन्द्रियों के विषयों से प्राप्त होता है वह सीमित होता है। इसलिये उनका अन्त दुःख में होता है। नित्य की शरण में जाने से हमें वास्तविक आनन्द की उपलब्धि होती है। जब व्यक्ति कुछ प्राप्त करना चाहता है, यह इच्छा है लेकिन जब वह कुछ प्राप्त करने के लिये बेचैन तथा आमादा हो जाता है तब इसे स्पृहा कहते हैं।

बाबाजी कहते हैं कि जब हम दुर्गन्धयुक्त वस्तु को किसी बर्तन में रखते हैं तो बर्तन खाली किये जाने पर भी उसमें दुर्गन्धयुक्त वस्तु का असर बाकी रह जाता है। यदि उस बर्तन को अग्नि पर तपाया जाता है तो दुर्गन्ध चली जाती है। इसी तरह जब साधक भगवान् का साक्षात्कार कर लेता है तब इच्छा के बचे हुए संस्कार भी नष्ट हो जाते

हैं। बाबाजी स्थितप्रज्ञ की तुलना गंगाजी के तट पर बिखरे हुए गोल पत्थर से करते हैं। यह गोल पत्थर गोल ही रहता है चाहे इसकी पूजा की जाये, चाहे इससे भांग घोटने का काम किया जाये या फिर चाहे इसे गन्दगी से लपेट दिया जाये (373)।

श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के निम्नलिखित चार श्लोक उसके लक्षण बताते है जिसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है :

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। 55
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। 56
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। 57
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। 58

जो व्यक्ति मन में विद्यमान सब इच्छाओं का त्याग कर देता है और जो अपने आप में अपने आप से संतुष्ट रहता है, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि सोया हुआ व्यक्ति स्थितप्रज्ञ है क्योंकि निद्रा में व्यक्ति की सारी इच्छाएं भी सोई रहती हैं। वह प्रसन्न है, सुखी है परन्तु वह सुख की कामना नहीं करता। जब वह दुःख का अनुभव करता है तथा कष्ट भोगता है तब वह तनिक भी विचलित नहीं होता। सुषुप्ति में व्यक्ति दुःख से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता का अनुभव नहीं करता और उस समय उसे सुख की कामना भी नहीं होती। चाहे वह कांटों में सो रहा हो या फूलों पर - इससे उसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इच्छा, भय, क्रोध आदि उस अवस्था में नहीं होते हैं। किसी भी वस्तु के प्रति उसमें कोई आकर्षण नहीं होता है। जो व्यक्ति जाग्रत् अवस्था की तुलना स्वप्न की अवस्था से करता है वह सिद्ध व्यक्ति है अर्थात् व्यक्ति इस संसार को ऐसे देखे जैसे कि यह एक स्वप्न हो। जब कछुए को भोजन की आवश्यकता होती है तब वह अपने अंगों को

फैलाता है परन्तु जब उसे भय का आभास होता है तब अपने अंगों को सिकोड़ लेता है। साधक इन्द्रियों के विषयों का स्वाभाविक रूप से अनुभव करता है लेकिन जब ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें उसे आसक्ति, मोह आदि का डर हो तब वह बाह्य संसार से अपने आप को खींच लेता है।

जो व्यक्ति अन्तर्मन में यह चिन्तन करता है कि संसार के कल्याण तथा अपने दृष्टिकोण से क्या अच्छा है और क्या बुरा है, वह मानव कहलाता है। जिसने अपनी कामनाओं पर काबू पा लिया है, वह मुक्त है और जिसने अपनी इच्छाओं का दमन नहीं किया है, वह बन्धन में है। जो व्यक्ति धन-सम्पत्ति की कामना करता है वह परिश्रम से उसको प्राप्त कर लेता है लेकिन जिसको धन-सम्पत्ति की कोई इच्छा नहीं है, उसके पास वह स्वाभाविक रूप से आसानी से आ जाती है जैसे समुद्र को नदियों की न तो आवश्यकता है और न ही उनकी कोई इच्छा फिर भी वे उसके पास स्वाभाविक रूप से चली जाती हैं। नदियां मरुस्थल में नहीं जाती चाहे उनकी वहां आवश्यकता ही क्यों न हो। बाबाजी यहां एक महत्त्वपूर्ण बात बताते हैं कि जब सुख आता है तो उसको छोड़ा जा सकता है परन्तु यदि प्रारब्ध के अनुसार दुःख भोगने के लिये उपस्थित हो जाये तो उसको छोड़ा नहीं जा सकता। इसको तो भोगना ही पड़ता है। जो व्यक्ति सम्मानित होने पर खुश नहीं होता और निन्दित होने पर दुःखी नहीं होता उसकी बुद्धि स्थिर है। श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के 58वें श्लोक में उल्लिखित "इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः" का अर्थ है कि हमें अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिये। 56वें श्लोक के "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः"अंश मन के नियन्त्रण की ओर संकेत करता है। "प्रजहाति यदा कामान्" बुद्धि के संयम का संकेत करता है और "आत्मन्येवात्मना तुष्टः" आत्मा के संयम को बताता है (382)। इस तथ्य का बहुत ही सावधानी से निरीक्षण करना चाहिये कि जो संतोष हमें किसी इच्छा विशेष के पूरे होने पर होता है, वह स्थायी नहीं है लेकिन वास्तविक प्रसन्नता तब होती है जब इच्छाओं से सर्वथा मुक्ति मिल जाती है। बाबाजी कहते हैं कि भारतीय सिद्धान्त यह है कि सब कुछ छोड़कर आत्मा की प्राप्ति करनी चाहिये (383)।

जैसे कोई व्यक्ति हंसना तथा गाल फुलाना एक संग नहीं कर सकता। ठीक उसी प्रकार कोई व्यक्ति विषयों की ओर झुका रहकर आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

मानव का यह कर्तव्य है कि वह अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में करे। मन के अनुसार चलना पशु के समान होता है। यह मनुष्य है जो ज्ञान को अज्ञान में परिवर्तित कर देता है। वह दूध बेच कर शराब खरीदता है। वह गुड़ से शराब बनाता है। जो व्यक्ति शास्त्र के बताए हुए मार्ग पर चलता है वह देवताओं से भी ऊपर हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति आशा तथा इच्छाओं का त्याग कर देता है तो वह देवताओं के लिये भी पूजनीय हो जाता है। यह संभव है कि संन्यास से भी अहंकार की भावना उत्पन्न हो जाये परन्तु अहंभाव के बिना सम्पत्तियों का त्याग कर देना आत्मभाव में प्रतिष्ठित होना है।

बाबाजी एक किसान का उदाहरण देते हैं जो बरसात को हर दृष्टि से अच्छा समझता था। एक बार बहुत वर्षा हुई और इसके परिणामस्वरूप उसकी सारी फ़सल, उसके बैल और उसका भाई सब नष्ट हो गए। गांव वालों ने उससे व्यंग में पूछा, "क्या वर्षा अच्छी होती है?" किसान ने उत्तर दिया 'हां' और कहा, "जो होना था वह हो गया। ऐसा कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ जिसके कारण बरसात को बुरा कहा जाये।" इसी प्रकार धर्म का अनुसरण करना भी अच्छा होता है। यदि किसी व्यक्ति को धर्म के कारण किसी कष्ट का अनुभव करना पड़े तो उसे धर्म की निन्दा तथा उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। यदि कोई कहे कि वर्षा अच्छी नहीं है क्योंकि बरसात के कारण हमारी इतनी हानि हो गई है तो यह बात बिल्कुल न्यायोचित नहीं है।

एक साधु था जिसने तीन साल तक वस्त्र नहीं पहने - यह संन्यास है। संन्यास को त्यागना नहीं चाहिये चाहे संन्यासी को कितने ही अवाञ्छनीय परिणाम भुगतने पड़ें। लेकिन उसने तीन साल के बाद कपड़े पहने शुरु कर दिये और यह कहा कि उसने संन्यास का परिणाम देख लिया है तथा इसके अभ्यास करने का कोई लाभ नहीं है। परन्तु वास्तव में संन्यास अच्छा है। चाहे संन्यास के समय कुछ

अवाञ्छनीय घटना घट भी जाये तो भी उसका त्याग नहीं करना चाहिये। जब हमारा मन इन्द्रियों के विषयों में रमण करता है तब हमारे मन में उनके लिये इच्छा उत्पन्न हो जाती है। जब हमारी इच्छाएं पूरी हो जाती हैं तब हमारे भीतर लोभ पैदा हो जाता है और जब हमारी इच्छाएं पूरी नहीं होती तब हम क्रुद्ध हो जाते हैं।

धर्म तथा भगवान् हमारी परीक्षा ले सकते हैं लेकिन हमें उनकी जाँच करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अपने कर्तव्यों का निर्वहन करते हुए धर्म का ध्यान रखना अच्छा है। हमारी इन्द्रियां अपने विषयों की ओर झुकी रहती हैं। जब हमारा मन पवित्र हो केवल तभी हम भगवान् का ध्यान कर सकते हैं। जब हमारा मन इन्द्रियों के साथ होता है तब वह विषयों का ध्यान करता है लेकिन जब हमारी इन्द्रियां पवित्र मन के साथ जुड़ी होती हैं तब भगवान् ध्यान के विषय बन जाते हैं (425)। जब क्रोध जग जाता है तब आसक्ति के कारण भ्रम का खेल प्रारम्भ हो जाता है। आसक्ति हमें यह विस्मृत करा देती है कि हम कौन हैं, हम कहां है और हमें क्या करना चाहिये? इससे विवेक का अभाव हो जाता है और आत्मनिरीक्षण के वाञ्छनीय पथ से साधक भटक जाता है। हमें हमेशा इन्द्रियों के विषयों का ध्यान नहीं करना चाहिये क्योंकि इन्द्रियों का विषयों से सतत सम्बन्ध ही साधक को आध्यात्मिक मार्ग से हटा देता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के "विषया विनिवर्तन्ते (2. 59)" श्लोक में दो संदेश दिये गये हैं। प्रथम तो आन्तरिक संन्यास से सम्बद्ध है और दूसरा बाह्य संन्यास से। आन्तरिक संन्यास मानसिक संन्यास है जो परमात्मा के दर्शन होने पर अस्तित्व में आता है (परं दृष्ट्वा निवर्तते)। जो लोग संन्यास को धारण कर चुके हैं लेकिन अभी अहंकार से ऊपर नहीं उठ पाये हैं वे इस सूक्ष्म बात को समझ नहीं पाते। इसलिये उनके लिये भीतर की बात कही जाती है ताकि वे संन्यास के लिये अनधिकारी न हो जायें (425-26)। साधुओं से बाह्य त्याग की बात इसलिये कही गई है वे अहंकार से ग्रस्त न हो जायें। "यततो ह्यपि कौन्तेय" तथा "तानि सर्वाणि" ये दो श्लोक युगल हैं। इसी प्रकार "ध्यायतो विषयान्पुंसः" और "क्रोधाद्भवति संमोहः" ये दो श्लोक

युगल हैं। पहला युगल बाह्य संन्यास को बताता है और दूसरा युगल भीतर विषयों का ध्यान न करे - इसके लिये सावधान करता है। जो विद्वान् लोग यह कहते हैं कि हम तो समर्थ हैं, हमारा इन्द्रिय तथा विषय कुछ नहीं बिगाड़ सकते उन्हीं को भगवान् सावधान करते हैं। विवेकी साधक समझते हैं कि इन्द्रियां बलवान् होती हैं और वे व्यक्ति तथा उसके मन को प्रभावित कर सकती हैं।

हमारा संसार से ध्यान तभी हट पायेगा जब हम सांसारिक जीवन से विरक्त होने के लिये स्वाभाविक सामर्थ्य की प्राप्ति कर लें; इसलिये नहीं कि हम सांसारिक सम्बन्धों से पीड़ित हो गये हैं। यदि हमने संसार त्याग दिया है परन्तु हमने सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति नहीं त्यागी है तो हमारी सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति बनी ही रहेगी और हम सांसारिक पदार्थों का चिन्तन करते रहेंगे चाहे हम जंगल में ही क्यों न रहें। बाबाजी यहां कबीरजी (426) का उद्धरण देते हैं साधकों को यह अच्छी तरह समझाने के लिये कि यदि इच्छा हमारे मन में प्रवेश कर गई है तो कोई बात नहीं परन्तु शरीर को उस ओर मत जाने दो। इस तथ्य को कबीर जी ने सारगर्भित रूप से कहा है: 'मन जाए तो जाने दो मत जाने दो शरीर'। इसका अर्थ यह है कि यदि हमारे मन में कामना उठ गई है तो हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हम उस इच्छा को पूरा करने में शारीरिक रूप से व्यापृत न हो जायें। फिर भी यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि इच्छा हानिकारक है। इसलिये इसको त्यागना ही चाहिये क्योंकि यह आपत्ति को निमन्त्रण देती है। इसको त्यागने का अवसर छोड़ना नहीं चाहिये। इसका टालना समझदारी नहीं है क्योंकि यदि कामना का अस्तित्व बना रहता है तो इसकी पूर्ति के मार्ग में व्यवधान आने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध आध्यात्मिक विकास में बाधा डालता है। क्रोध से मतिविभ्रम या भ्रम उत्पन्न हो जाता है जो आत्मा के स्वरूप का अन्वेषण करने वाले साधक की चेतना (सजग प्रवृत्ति) को ही नष्ट कर देता है।

जब आत्मा का विस्मरण हो जाता है तब व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों के प्रति झुक जाता है। आत्मा के ध्यान का अभाव होने पर आध्यात्मिक

मार्ग से मन हट जाता है, उसका आध्यात्मिक झुकाव नष्ट हो जाता है। वैज्ञानिक उन विषयों का अध्ययन करते हैं जिनसे व्यक्ति को सुख, संतोष आदि की प्राप्ति होती है। उनका योगदान ऐसे ही पदार्थों के अन्वेषण में है। इसी प्रक्रिया में विध्वंस करने वाले साधन भी बन गये हैं। जब विवेक नष्ट हो जायेगा तब मानव जाति को नष्ट करने के लिये अणु बम आदि का प्रयोग किया जायेगा। यद्यपि वैज्ञानिकों की बुद्धि तीव्र होती है परन्तु अन्त में विवेकशील बुद्धि का अभाव हो जाता है क्योंकि इन्द्रियों के विषयों को भोगने के लिये ही बुद्धि का उपयोग किया गया है। जीवन की सारी सुख-सुविधाओं के पदार्थों से मानव बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाला हो गया है जो आध्यात्मिक विकास के लिये हानिकारक है। जो ज्ञान सुख तथा संतोषप्रद पदार्थों को उत्पन्न करने में लगाया गया है यदि वही ज्ञान अन्तर्मुखी होने में लगाया जाता तो उससे साक्षात्कार की प्राप्ति की जा सकती थी। हमारे ऋषि, मुनि यह सब जानते थे। इसीलिये उन्होंने सुख-सुविधाओं के पदार्थों के उत्पन्न करने को अधिक महत्त्व नहीं दिया। कारण यह है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण अनुमोदन करने योग्य नहीं है क्योंकि इससे आत्माभिमुख होना अत्यन्त कठिन है। सुख-सुविधाओं के पदार्थों का अस्तित्व कामना को जन्म देता है। इच्छा के उत्पन्न होने पर उस पर काबू पाना कठिन होता है। यही कारण है कि जब इच्छाएं सुप्तावस्था में होती हैं तभी ऋषिजन इच्छाओं को त्याग देना चाहते हैं।

जब हम इन्द्रियों की प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने में सफल होने लगते हैं तब हमारे मन में सूक्ष्म रूप से अहंकार की भावना अंकुरित हो जाती है। इससे मन की शान्ति भंग हो जाती है। यदि हम अहंकार की भावना से बचने में सफल हो जाते हैं, तब फिर शान्ति उत्पन्न हो जाती है। केवल प्रयत्न करने पर ही हम इन्द्रियों के विषयों के आकर्षण से बच सकते हैं। एक व्यापारी था जिसकी गाड़ी कीचड़ में धंस गयी थी। उसने हनुमान् चालीसा पढ़ना आरम्भ कर दिया और साथ ही वह यह भी देख रहा था कि गाड़ी कीचड़ से बाहर आने लगी या नहीं। तब उसे एक विचार आया कि हनुमान् चालीसा पढ़ने के साथ-साथ उसे भी गाड़ी कीचड़ से बाहर निकालने का प्रयत्न भी करना चाहिये।

हनुमान् चालीसा पढ़ने के साथ-साथ उसने भी गाड़ी कीचड़ से बाहर निकालने का प्रयत्न किया और उसे सफलता मिली। प्रत्येक स्थिति में हमें ऐसा करना चाहिये।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु (भ. गी. 2.64) - श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक की व्याख्या ऐसे भी की जा सकती है कि यदि राग तथा द्वेष का अभाव है तो इन्द्रियों के विषयों को मुक्तभाव से भोगा जा सकता है। यह आसान भी है तथा कठिन भी। इस विषय में बहुत से विद्वान् कहते हैं कि जब कोई राग-द्वेष नहीं है तो इन्द्रियों के विषयों को छोड़ने की क्या आवश्यकता है? यह स्थिति तब हो सकती है जब व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों का भोग तथा आध्यात्मिक उन्नति दोनों चाहता हो। लेकिन यह श्लोक चेतावनी देता है कि इन्द्रियों के विषयों को मुक्तभाव से नहीं भोगना चाहिये क्योंकि इन्द्रियां शक्तिशाली होती हैं और व्यक्ति के मन को ऐसे खींच ले जाती हैं जैसे वायु नदी में नाव को बहाकर ले जाती है। गृहस्थियों को केवल वे विषय भोगने चाहिये जो शास्त्र के द्वारा अनुमोदित हों।

जब कोई हमारी प्रशंसा कर रहा है तब हम सामान्य रूप से सचेत नहीं रहते लेकिन जब कोई हमारी बुराई कर देता है तब हम विचलित हो जाते हैं। ऐसी स्थितियों में हमें सचेत रहना चाहिये। प्रशंसा के समय सचेत न रहने का अर्थ है कि प्रशंसा हमें अच्छी लगी और निन्दा से व्याकुलता होती है - यह हमें स्पष्ट पता चल जाता है। दोनों स्थितियों में समान भाव से रहना तभी संभव है जब हम विषयों से दूर हट कर मन का संयम कर लें। यह कहा जाता है कि उन विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होना चाहिये जिन विषयों को हमने छोड़ दिया है। यदि हम उन विषयों का चिन्तन करते रहेंगे जिनको हमने छोड़ दिया है तो किसी भी समय विषयों की इच्छा हमें दबोच लेगी और फिर हम उनको भोगने लगेंगे।

श्रीमद्भगवद्गीता में हम कहीं भी इस विषय का वर्णन नहीं पायेंगे कि व्यापार से धन का अर्जन करना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता मुख्य रूप से यह उपदेश करती है कि हमें अपने कर्तव्य कर्म करते हुए धर्म का

अर्जन कैसे किया जाये? व्यापारी लोगों को अपनी जीविका का अर्जन करते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिये। साधुओं को भी इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अच्छी भिक्षा मिलने पर वे बहुत खुश न हों। यदि कोई साधु खराब भिक्षा पाने पर दुःखी हो जाता है तो वह निकृष्ट साधु है। रागद्वेषवियुक्तैस्तु (भ. गी. 2.64) - श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक का अर्थ यह है। यह भी कभी-कभी होता है कि कोई साधु अपने त्याग को छिपाने के लिये मिठाई भिक्षा में मांगता है परन्तु यदि वह इस कृत्य का प्रदर्शन करता है तो वह अपनी इस स्थिति का प्रदर्शन कर रहा है। यह अच्छे साधु का लक्षण नहीं है। आजकल साधु की महत्ता इस बात से आंकी जाती है कि उसके पास बड़ा आश्रम है या नहीं, न कि उसके वैराग्य की गुणवत्ता से (431)। साधुओं को जंगलों में प्राकृतिक पदार्थ मिल सकते हैं जिनसे वे अपने जीवन का निर्वहन कर सकते हैं। राग-द्वेष के बिना वे इस प्रकार के पदार्थों का उपयोग कर सकते हैं। यह उपर्युक्त श्लोक का वास्तविक अर्थ है। बाबाजी इस श्लोक पर अपना वक्तव्य जारी रखते हैं क्योंकि यह आध्यात्मिक प्रगति के लिये महत्त्वपूर्ण श्लोक है। राग-द्वेष के बिना भोजन करना और इन्द्रियों के विषयों का उपयोग जीवन निर्वहन के लिये करना साधक को मन पर नियन्त्रण रखने तथा मन की शान्ति प्राप्त करने में सहायता करता है। वास्तविक प्रसन्नता में बेचैनी नहीं होती। जो कुछ भगवान् के द्वारा दिया गया है वह प्रसाद है। वह अपने भक्तों से वह त्यागने को नहीं कहता जो उनको स्वाभाविक रूप से मिलता है और अधिक की इच्छा करने को भी नहीं कहता है। लेकिन हमें उसकी कृपा समझ कर उसे स्वीकार कर लेना चाहिये जो कुछ बिना मांगे मिल जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। भ. गी।, 2. 64
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। भ. गी।, 2. 65
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।। भ. गी।, 2. 66

बाबाजी दूसरे अध्याय के ये तीन श्लोक इकट्ठे लेते हैं यह समझाने के लिये कि साधक आनन्द की प्राप्ति कैसे कर सकता है? इन श्लोकों का यह अर्थ है:

जिसने अपना मन वश में कर लिया है, जो वश में की हुई तथा राग-द्वेष से रहित ज्ञानेन्द्रियों से विषयों का उपयोग करता है, वह शान्ति प्राप्त कर लेता है।

जब शान्ति प्राप्त हो जाती है तब हमारे समस्त दुःखों की समाप्ति हो जाती है। शान्त मन वाले व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही पूर्ण रूप से स्थिर हो जाती है।

जिस व्यक्ति ने अपने आप को अनुशासित नहीं किया है वह विवेकरहित है। जिसका मन अनुशासित नहीं है उसको आत्मा की अनुभूति करने के लिये कोई भावना ही नहीं होती। जब उसके मन में सत्य के लिये कोई भावना ही नहीं है तो उसको शान्ति कैसे प्राप्त होगी? शान्तिरहित व्यक्ति को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?

बाबाजी कहते हैं कि जिन पदार्थों को हम देखते हैं तथा भोगते हैं - यह प्रारब्ध का ही फल है। कर्म तथा उसका फल - ये दो चीज़े हैं। इसका अर्थ यह है कि जब हम बिना राग-द्वेष के पदार्थों का उपयोग करते हैं तो हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कर्म करते हुए हमें राग-द्वेष से मुक्त रहना चाहिये। यह केवल खाने-पीने की बात नहीं है प्रत्युत कर्म करने की भी है। जब हम स्वयं में शान्त होते हैं तथा हमारा मन नियन्त्रित होता है तब हम राग-द्वेष के बिना पदार्थों का उपयोग तथा कर्म कर सकते हैं। इस प्रकार हम धैर्य के साथ आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं और मन की शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

बाबाजी यहां यह समझाते हैं कि साहित्य तथा काव्य में प्रसाद गुण क्या होता है? साहित्य में जो कविता सरस तथा कोमल हो वह प्रसाद गुण से युक्त होती है। इसी प्रकार जब कर्म करने में अहंकार का भाव नहीं होता तब वह कर्म सरल तथा सहज होता है। वास्तव में इन्द्रियों के विषय अज्ञान के ही कार्य हैं। जब उनका उपयोग बिना राग-द्वेष के सहज तथा सरल तरीके से किया जाता है तब उनकी बन्धन की प्रकृति

प्रभावी नहीं रहती है। कोई भी काम अहंकार तथा कर्तृत्व की भावना के बिना किया जाये तो वह बन्धन का कारण नहीं होता है। इस प्रकार से किया हुआ कर्म मन में पवित्रता, कोमलता तथा शान्ति को उत्पन्न करता है और आत्मा अपने वास्तविक तथा शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति में समर्थ हो जाती है। बाबाजी के अनुसार "प्रसादमधिगच्छति" का अर्थ है "अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।" इसका शाब्दिक अर्थ है: मन की शान्ति प्राप्त करता है।

महात्मा के कर्म तथा ज्ञान के विषय गृहस्थ के कर्म तथा ज्ञान के विषयों से भिन्न होते हैं। आन्तरिक शक्ति (ब्रह्मशक्ति) आन्तरिक दोषों को ठीक करती है जैसे बाह्य शासन की शक्ति बाहर के दोषों को ठीक करती है। वृद्धावस्था में गंगाजी के किनारे कुटिया बना लेनी चाहिये और बिना राग-द्वेष के कर्म करते हुए संन्यस्त जीवन व्यतीत करना चाहिये। इस प्रकार का जीवन सब दुःखों का अन्त कर देता है। आन्तरिक पवित्रता तथा शान्ति से निवृत्ति उत्पन्न होती है। यद्यपि निवृत्ति उत्पन्न नहीं होती तथापि यहां ऐसा कहा गया है। इस बात को इस प्रकार समझा जा सकता है। जब बांस के फूल लगते हैं तो आपस में घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है और बांस का जंगल नष्ट हो जाता है। ठीक इस प्रकार जब पवित्र मन में प्रसाद गुण उत्पन्न होता है तब दुःखों का बांसरूपी जंगल जलकर नष्ट जाता है (441-2)। मन का संयम बुद्धि की स्थिरता को उत्पन्न करता है। "नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य"- इस वाक्य में अयुक्तशब्द का अर्थ है: जिसका मन पवित्र नहीं है या जिसकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि वैराग्य के सतत अभ्यास से मन वश में किया जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में "विषया विनिवर्तन्ते" से लेकर "न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्" तक विचाराधीन विषय यहां सम्पन्न होता है।

युक्तिशब्द का अर्थ बाबाजी ने विस्तार से समझा दिया है। प्रत्येक अवस्था में जिसकी बुद्धि स्थिर रहती है वह 'युक्त' है। जो निष्काम है वह 'युक्त' है। जो इन्द्रिय तथा मन के संयम वाला है वह 'युक्त' है। जो इन्द्रियों के विषयों से अपने आप की रक्षा करता है तथा जिसको

बन्धन से मुक्त होने की कला आती है वह 'युक्त' है। जिसका मन स्थिर तथा शान्त है वह 'युक्त' है। जो धर्म तथा न्याय के लिये संन्यास लेता है और जो सोने तथा मिट्टी को समान समझता है वह 'युक्त' है। भगवान् शिव के शरीर पर सर्पों का विद्यमान होना यह सूचित करता है कि संन्यास लेने वाला व्यक्ति कठिन समय में भी विचलित नहीं होता।

अब हम देखते हैं कि बाबाजी श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" की व्याख्या किस प्रकार करते है? इस श्लोक में मुनि (स्थितप्रज्ञ) तथा सामान्य जन का उल्लेख यह बताता है कि वे रात और दिन के समान एक दूसरे के विपरीत हैं। एक के लिये जो दिन है वह दूसरे के लिये रात है। पवित्र मन वाले साधक ने इन्द्रियों के जिन विषयों को त्याग दिया है वे विषय मूर्ख व्यक्ति को बहुत अच्छे लगते हैं। मनुष्य के द्वारा वमन की हुई वस्तु कुत्ते को अच्छी लगती है और सूअर को मल अच्छा लगता है। परन्तु स्थितप्रज्ञ यह सोचता है कि जो व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों में रत रहता है वह नीचे की ओर जा रहा है। सामान्य लोग जिसे दिन समझते हैं अर्थात् इन्द्रियों के विषयों के भोग के प्रति सजग रहते हैं उसे पवित्र मन वाले रात समझते हैं अर्थात् इन्द्रियों के विषयों से विमुख रहते हैं। बुद्धिमान् साधक उसमें जगा रहता है जिसमें सामान्य जन सोते रहते हैं। जिन साधकों ने अपना मन तथा इन्द्रिय संयमित कर लिये हैं वे रात में जगे रहते हैं परन्तु सामान्य जन आसक्ति की रात में सोते रहते हैं। जहां प्रकाश है वहां भय नहीं है और आत्मसंयम ही प्रकाश है। जैसे एक उल्लू दिन के प्रकाश में देख नहीं सकता वैसे ही आम आदमी आत्मा के आनन्दरूपी प्रकाश को देख नहीं पाता। जो व्यक्ति आत्मा के प्रकाश को नहीं देख पाता वह उल्लू के समान है। परमात्मा का प्रेम पवित्र मन वाले व्यक्ति में रहता है। यह वह प्रकाश है जो कामनाओं तथा इन्द्रियों के विषयों के प्रति आसक्ति से ग्रस्त व्यक्ति को दिखाई नहीं देता। जिसमें सामान्य लोग जागे रहते हैं वह मुनि के लिये रात है। दूसरे शब्दों में, इन्द्रियों के विषयों का भोग आध्यात्मिक ज्ञान से संपन्न व्यक्ति के द्वारा रात्रि समझा जाता है। हंस मछलियों को नहीं

खाता तथा उनको तैर कर दूर जाने देता है परन्तु बगुला इसे मूर्खता समझता है। यह दृष्टान्त सांसारिक लोगों तथा स्थितप्रज्ञ के प्रसंग में लागू किया जा सकता है। जो अस्थिर मति वाले लोग हैं वे स्थिर बुद्धि वाले लोगों को मूर्ख समझते हैं क्योंकि वे मानो स्नान करने के पश्चात् अपने शरीर पर भस्म लगाते हैं परन्तु वे उस आनन्द को नहीं समझ पाते जो स्थितप्रज्ञ अनुभव करता है।

सांसारिक लोगों का ध्यान उन पदार्थों की ओर लगा रहता है जिनको वे पसंद करते हैं परन्तु जो आत्मसंयम का अभ्यास करते हैं वे उन वस्तुओं की ओर आकृष्ट नहीं होते जो सामान्य लोगों को अच्छी लगतीं हैं। सांसारिक लोग सत् को अच्छा समझते हैं परन्तु उसकी ओर ध्यान नहीं देते। मान-सम्मान, धन आदि की इच्छा करते हैं। आत्मसंयम से सम्पन्न व्यक्ति इन सांसारिक पदार्थों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता। श्लोक की दूसरी पंक्ति में 'मुनि' का उल्लेख प्रदर्शित करता है कि जिन्होंने विचारपूर्वक इन्द्रियों के विषयों का त्याग कर दिया है वे उन विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होते जो सांसारिक लोगों को आकर्षित करते हैं। मुनि को यह ज्ञान है कि केवल आत्मा ही सर्वाधिक ध्यान देने योग्य है। आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी अवधेय नहीं है। मुनि यह जानता है कि चैतन्य तथा आनन्द आत्मा का स्वरूप है। इसलिये वह उस खुशी की कामना नहीं करता जो बाह्य विषयों से प्राप्त होती है। सांसारिक लोग नहीं जानते कि शरीर तथा इन्द्रियों से परे आनन्दस्वरूप आत्मा विद्यमान है क्योंकि वे बाहर की वस्तुओं के प्रति आकृष्ट रहते हैं। ध्यान तथा मनन करने वाला साधक यह विचार करता है कि आत्मा नित्य है। दृश्यमान वस्तुएं नित्य नहीं हैं। इसलिये उसे दृश्यमान जगत् के प्रति वैराग्य तथा अनासक्ति हो जाती है। बाबाजी यहां प्रसंग के अनुकूल एक दृष्टान्त देते हैं। बालक उस हीरे की ओर कोई ध्यान नहीं देता जो उसके सामने पड़ा हुआ है क्योंकि उसे हीरे की कीमत मालूम नहीं है। दूसरी ओर मुनि को सांसारिक दृष्टि से हीरे का मूल्य पता है परन्तु वह उसको नहीं लेता क्योंकि वह उसमें वास्तविक मूल्य नहीं देखता। वह हीरे को तुच्छ समझता है।

बाबाजी श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक -

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। भ. गी. 2.69 की व्याख्या जारी रखते हैं। वे कहते हैं कि आत्मसंयमी साधक सामान्य लोगों की रात्रि में जगा रहता है। जिस रात्रि में मुनि जागता रहता है वह सामान्य लोगों के सोने के लिये है। दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। इन दोनों में अच्छा कौन है? यह कोयल तथा कौए की लड़ाई के समान है। कौआ कहता है कि कोयल का स्वर कर्कश है और कोयल कहती है कि कौआ गन्दा है। अब हमें यह निर्णय करना है कि दोनों में से कौन बेहतर है? दोनों काले हैं। कोयल अपने स्वर से सबका मन आह्लादित कर देती है लेकिन कौए में यह गुण नहीं है। इसलिये चयन स्पष्ट है। मुनि की तुलना चन्द्रमा से की गई है। वह अकेला होने पर भी अन्धकार को दूर कर देता है जबकि तारे असंख्य होने पर भी अन्धकार को दूर नहीं कर सकते। जो अन्धकार दूर करता है वह अधिक उत्कृष्ट है। संयम से संपन्न मुनि उन अनेक लोगों से अच्छा है जिन्होंने अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में नहीं किया है। तब बाबाजी ने एक घटना का वर्णन किया। एक बार अर्जुन और दुर्योधन सहायता के लिये श्रीकृष्ण के पास गये। श्रीकृष्ण ने उन दोनों से अपने तथा अपनी नारायणी सेना के बीच चुनाव करने के लिये कहा। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को चुना और दुर्योधन नारायणी सेना लेकर बहुत प्रसन्न था। भगवान् एक हैं वैसे ही एक संयमी भी अनेकों से बेहतर है। सामान्य जनों की ओर से अर्जुन भगवान् के समक्ष एक समस्या रखते हैं:

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। भ. गी. 6. 34

मन बड़ा चञ्चल है। प्रमथनशील तथा बहुत बलवान् है। इसका नियन्त्रण मैं वायु के समान अत्यन्त कठिन मानता हूं।

यह प्रश्न जीवों की ओर से किया गया है। मन को वश में नहीं करेंगे तो यह कामनारहित कैसे होगा? इन्द्रियां बाहर की ओर झुकी

रहती हैं क्योंकि उन्हें अन्दर अंधेरा दिखाई देता है (461)। हम उन्हें कैसे वश में करें? श्रीकृष्ण कहते हैं कि वैराग्य के सतत अभ्यास से मन को वश में किया जा सकता है। पूर्व उद्धृत श्लोक की ओर ध्यान दिलाते हुए बाबाजी कहते हैं कि जिन्होंने अपने मन तथा इन्द्रियों को संयमित कर लिया है वे उन पदार्थों को सारहीन समझते हैं जिनको सामान्य लोग बहुत महत्त्व देते हैं। इसके विपरीत जिन वस्तुओं को मुनि सारभूत समझता है वे सामान्य जन को सारहीन लगती हैं। सांसारिक लोग कर्मयोग तथा निष्कामता के महत्त्व नहीं समझते हैं। इसलिये वे इनका विस्मरण किये रहते हैं लेकिन जहां तक इच्छाओं तथा आशाओं का प्रश्न है उनकी ओर उनका ध्यान रहता है और उनके द्वारा आकर्षित कर लिये जाते हैं। परन्तु मुनि उनकी ओर ध्यान नहीं देता है। यदि कोई विद्वान् यह कहता है कि वह बहुत ज्ञानवान् है और इन्द्रियों के विषय उसको कोई नुक़सान नहीं पहुंचा सकते। ऐसी स्थिति में भगवान् श्रीकृष्ण उस व्यक्ति को चेतावनी देते हैं। यह ठीक है कि वह प्रयत्न कर रहा है फिर भी उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि बाह्य वस्तुओं का त्याग ही पर्याप्त नहीं है। आन्तरिक त्याग भी अत्यन्त आवश्यक है। बाह्य संयम तथा आन्तरिक संयम दोनों ही संयम आवश्यक हैं।

एक लोभी व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती है। एक हरिण मृगमरीचिका को देखकर यह सोचता है कि आगे जाने वाला मृग पानी में गोते लगा रहा होगा। इसी तरह एक लोभी आदमी यह सोचता है कि वे लोग प्रसन्न हैं जिनके पास कार, घर आदि हैं। जिन लोगों को धन-दौलत का लोभ है उन्हें शान्ति नहीं मिलती है। भर्तृहरि ने भी कहा है कि जिनको संतोष है वे लोग ही शान्ति को प्राप्त करते हैं और जिनमें इच्छाएं हैं उनके पास संतोष नहीं है। स्थितप्रज्ञ के वर्णन का उपसंहार करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के 70 वें श्लोक में भगवान् कहते हैं :

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।

समुद्र मर्यादा में बँधा हुआ रहता है। यह अपने आप में परिपूर्ण है। यद्यपि इसमें बहुत तूफ़ान, आवर्त आते रहते हैं तो भी यह अपने में ही स्थित रहता है। उसमें जो कुछ भी व्यवहार दिखता है, वह अपने में ही रहता है, बाहर नहीं जाता। समर्थ होने पर भी सहज ही प्रतिष्ठित है। ऐसे समुद्र में वर्षा की बूंदे गिरें या नदियां इसमें गिरें, इसमें वृद्धि नहीं होती। समुद्र कहता है कि यह जल हमसे ही है, हमसे ही बादल बनकर बरसात होती है, वैसे ही सब परमात्मा से होता है। सब सुख परमात्मा में है। जो सुख बाहर ढूँढ़ते हैं वे भ्रम में हैं। जो कुछ सुख हमें विषयों से मिलता है वह सब परमात्मा के स्वरूपभूत आनन्द से ही आता है। निष्काम व्यक्ति की ओर विषय प्रचुर मात्रा में आते हैं। एक क्षुद्र हृदय वाला व्यक्ति अल्प धन ही मिलने पर बहुत उछलता है जैसे क्षुद्र नदी बरसात का थोड़ा सा पानी पाकर उछलने लगती है। तुलसीदासजी कहते हैं: छुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरेहुँ धन खल इतराई।। समुद्र जानता है कि बादल इसी के पानी से बनते हैं। इसलिये बरसात का पानी गिरने पर समुद्र इतराता नहीं है। नदियां समुद्र में गिरती हैं और समुद्र ही बन जाती हैं तथा वे समुद्र के परिमाण में वृद्धि नहीं करती। समुद्र निष्कामता का प्रतीक है। यद्यपि समुद्र को उनकी कोई कामना नहीं होती है तब भी नदियां समुद्र की ओर आती हैं। जो व्यक्ति निष्काम है वह समुद्र के समान है। चन्द्रमा के पूर्ण होने पर समुद्र में ज्वार आता है। यह प्रेम का सूचक है।

यह इच्छा ही है जो विषयभोग, क्रोध, लोभ, मोह, घमण्ड, ईर्ष्या, आसक्ति तथा अभिमान को उत्पन्न करती है। इसीलिये जब व्यक्ति सारी इच्छाएं त्याग देता है तब ये सब भी समाप्त हो जाते हैं। ममत्व तथा अहंता की भावना के समाप्त हो जाने पर व्यक्ति शान्ति प्राप्त कर लेता है। यदि व्यक्ति विषयभोग के बिना आनन्द का अनुभव करता है तो उस आनन्द को शान्ति कहते हैं (472-3)।

स्थितप्रज्ञ के विषय का उपसंहार हो जाने पर बाबाजी कर्मयोग के वर्णन का आरम्भ करते हैं ताकि ज्ञानयोग को भली-भाँति समझा जा सके। जो कर्म से मुक्ति दिला दे वह कर्मयोग है। लोग कर्म से बन्धन में पड़ते हैं लेकिन कर्मयोग कर्म से छुटकारा दिला देता है (473)।

इस प्रसंग में बाबाजी सामान्य जन के जीने के तरीके की मछली के जीवन से तुलना करते हैं और परम सत्य के ज्ञाता की तुलना कच्छप से करते हैं। दोनों पानी में रहते हैं। कछुआ अपने जीवन निर्वाह के लिये अपने अंगो को खुला रखता है तथा अंगो का संकोच करने के लिये भी उद्यत रहता है ताकि भय उपस्थित होने पर वह एकदम अपने अंगो का संकोच कर ले। इसी प्रकार ज्ञानी की इन्द्रियां भी विपरीत स्थिति में सिमटने के लिये तैयार रहती हैं। ज्ञानी के लिये ज्ञान उसकी ढाल है। कछुए का दृष्टान्त इस बात पर बल देता है कि हम प्रतिकूल स्थिति में अपनी इन्द्रियों को विषय से हटाने के लिये सदैव तत्पर रहें। मछली इस प्रकार की सावधानी रखकर जल में विचरण नहीं करती। इसलिये बाबाजी सावधान करते हुए कहते हैं कि हम संयमहीन होकर (अनियन्त्रित अवस्था में) इन्द्रियों के विषयों को न भोगें।

संन्यास के सम्बन्ध में बाबाजी वृन्दावन की एक बहुत उपयोगी कथा सुनाते हैं। वृन्दावन में एक साधु रहता था। वह केवल आटे की भिक्षा लेता था। वह नमक तक भी नहीं मांगता था। उसके मन में कोई इच्छा नहीं थी। भगवान् उस पर प्रसन्न थे। साधु वृन्दावन के स्वामी का नाम लेता था। एक बार भगवान् ने उसकी परीक्षा लेनी चाही। वृन्दावन के स्वामी थोड़े क्रीड़ाशील थे। वे साधु के स्वप्न में प्रकट हुए और कहा कि वे उसकी कुटिया के समीप धरती में दबे हुए हैं। भगवान् ने साधु से अपने को धरती से खोद कर निकालने तथा पूजा करने को कहा। साधु ने भगवान् की प्रतिमा को निकाला और केवल रोटी से उनकी पूजा करनी प्रारम्भ कर दी। भगवान् ने साधु से कहा कि केवल रोटी से पूजा करना सही नहीं है। दूसरे दिन साधु ने नमक भी मांगना प्रारम्भ कर दिया। भगवान् ने उससे दाल तथा सब्ज़ी का भोग लगाने को कहा। भगवान् ने सोचा साधु संन्यासी है। हो सकता है कि इसे मांगने में शर्म लगे। इसलिये उन्होंने अच्छे भोगों की व्यवस्था कर दी। बहुत सम्पत्ति भी भिक्षा के रूप में आ गई। प्रतिदिन अच्छे-अच्छे पकवान बनने लगे और उनका भोग लगने लगा। साधु को यह आभास हुआ कि भगवान् उसकी परीक्षा लेने के लिये यह सब कर रहे हैं। यदि भगवान् अपना ऐश्वर्य दिखा सकते हैं तो साधु उनका

त्याग भी कर सकता है। साधु ने अपने शिष्यों से कहा कि भगवान् को प्रतिदिन उपयुक्त भोग चढ़ाया जाये और ऐसा कहकर साधु वहां से चला गया। यदि साधु यह सब चाहता तो ऐसा कह सकता था कि सब कुछ भगवान् के भोग के लिये आ रहा है और उनकी कृपा से आ रहा है। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। उसने सही तरीके से सब कुछ छोड़ दिया। संन्यास में मुक्ति है। जहां इच्छा है वहां बन्धन है। यदि संन्यास ग्रहण करने में घमण्ड तथा दिखावा होता तो उसके लिये भगवान् के निर्देशानुसार कार्य करना बेहतर होता। लेकिन अहंकार की भावना से रहित संन्यास उत्कृष्ट है क्योंकि इससे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते" से लेकर "पदं गच्छन्त्यनामयम्" श्रीमद्भगवद्गीता के 47 से 51 तक पांच श्लोक कर्मयोगी का स्वरूप तथा उसके त्याग का महत्त्व भी बताते हैं क्योंकि यदि त्याग की भावना के साथ कर्म न किया जाये तो कर्म पूरा ही नहीं होता (499)। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का कर्म करने में अधिकार है उसके फल में नहीं। अकर्मण्यता का अधिकार भी नहीं है क्योंकि कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किये नहीं रह सकता। तो फिर व्यक्ति बिना फल की इच्छा के अपना कर्तव्य कर्म क्यों न करे? यदि कोई व्यक्ति अच्छा कर्म करता है तो वह फल को स्वीकार तथा अस्वीकार करने में स्वतन्त्र है लेकिन यदि कोई व्यक्ति बुरा कर्म करता है तो वह उसके फल को स्वीकार तथा अस्वीकार करने में वह स्वतन्त्र नहीं है। उसे उस दुष्कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा। बाबाजी इस बात को एक उदाहरण देकर समझाते हैं। बाबाजी कहते हैं कि यदि कोई उनको बहुत धन दे तो उसको स्वीकार तथा अस्वीकार करने में वे स्वतन्त्र हैं। निष्कामता में स्वतन्त्रता है। लेकिन जिसमें इच्छा है वह परतन्त्र है। लोग इच्छाओं से बन्धन में फंस जाते हैं। यदि कोई आचार्य अपने शिष्य को फल की प्राप्ति के लिये एक विशेष कर्म करने को कहता है और वह शिष्य फल की कामना से उस कर्म को करता है तो यह ठीक नहीं होगा क्योंकि आचार्य ने उसकी मानसिक अवस्था की जाँच करने के लिये ऐसा किया है। बाबाजी ने उस साधु की बात बताई जिसको भगवान्

की कृपा से विपुल नैवेद्य (चढ़ावा) प्राप्त हुआ। शिष्यों से कह कर यह निश्चित कर लिया कि भगवान् को अच्छा नैवेद्य चढ़े और वह साधु उस स्थान से चला गया क्योंकि उसके मन में यह विचार आया कि भगवान् उसकी नीयत की परीक्षा ले रहे हैं। साधु के मन में कोई इच्छा ही नहीं थी। इसलिये उसने उस स्थान को छोड़ दिया जब वहां बहुत अच्छा तथा मूल्यवान् चढ़ावा आने लग गया था। इसी प्रकार जब आचार्य शिष्यों को फल की कामना से कर्म करने को कहते हैं तब शिष्यों को बिना किसी इच्छा के कर्म करने चाहिये।

व्यक्ति को समता का दृष्टिकोण रखना चाहिये चाहे वह सुखी हो या दुःखी, चाहे सम्मानित हो या अपमानित और चाहे उसे लाभ हो या हानि। जब कर्म बिना किसी कामना के किया जाता है तो कर्मयोग बन जाता है। निष्कामता कर्म से उत्पन्न होने वाले बन्धन को समाप्त कर देती है।

स्वेच्छा से त्याग करने से सुख मिलता है। कल्पना करो कि एक बटुआ कहीं पर गिर गया है, कोई व्यक्ति उसे उठाता है और उस बटुए को उसके मालिक को देकर अपनी ईमानदारी पर खुशी महसूस करता है। यदि वह इस बटुए को किसी और को दान में दे देता तो वह व्यक्ति जिसको बटुआ मिला है प्रसन्न होता। दूसरे को सुख देने से स्वयं को भी सुख मिलता है। दान देना एक महान् कर्म है। बिना त्याग के आत्मा पुष्ट नहीं होती।

बाबाजी कहते हैं कि नाम तथा रूप एक ही हैं क्योंकि वाणी तथा आँखें अग्नि से उत्पन्न हुई हैं। नाम मन में प्रवेश करता है। उसी प्रकार रूप को भी मन के द्वारा विषय बनाया जा सकता है। यदि ज्ञान तथा भावना के साथ भगवान् के नाम का उच्चारण किया जाता है तो हमारा बहुत फ़ायदा होता है। यहां बाबाजी पण्डितराज जगन्नाथ की कहानी सुनाते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा कि यदि रानियां अपने शरीर पर कस्तूरी का लेप करके गंगाजी में स्नान करती हैं तो जिनकी कस्तूरी का लेप करके रानियां स्नान करती हैं, वे मृग बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने मुक्ति के लिये गंगाजी से प्रार्थना की थी।

उन्होंने एक श्लोक पढ़ा गंगाजी एक सीढ़ी ऊपर आ गईं। जब उन्होंने गंगाजी की स्तुति में एक सौ एक श्लोकों का सस्वर पाठ किया तब गंगाजी एक सौ एक सीढ़ियां ऊपर आ गईं और पण्डितराज जगन्नाथ को अपने साथ बहा ले गईं। बाबाजी कहते हैं भगवान् ने द्रवित होकर गंगाजी का रूप धारण किया है ताकि महान् आत्माएं इसमें स्नान कर सकें और साधक गण इसकी पूजा कर सकें (506)।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। भ. गी., 18.65
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। भ. गी., 18.66

"अपना मन मेरे में लगाये रखो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आ जाओगे। मैं ऐसी सत्य प्रतिज्ञा करता हूं क्योंकि तुम मुझे प्रिय हो।"

"सब धर्मों को छोड़ कर तुम केवल मेरी शरण लो। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त करूंगा। शोक मत करो।"

श्रीमद्भगवद्गीता के ये लगभग अन्तिम श्लोक हैं। इनके बाद भगवान् ने वे मानक गुण बताए हैं जिनसे सम्पन्न होने पर व्यक्ति श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् के द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेशों को सुनने का अधिकारी हो सकता है। इसके साथ ही उन्होंने उपसंहार में अन्य टिप्पणियां भी की हैं। श्रोता अर्जुन जैसा होना चाहिये। भगवान् अर्जुन को विश्वास दिलाते हुए कहते हैं कि वह सब कुछ उन पर छोड़ दे और उनकी शरण ले। वे ही उसको असंख्य जन्मों में किये हुए कर्मों के फलों से मुक्त कर देंगे। उसे मुक्ति की चिन्ता नहीं करनी चाहिये जिसकी भगवान् ने अर्जुन से प्रतिज्ञा की हुई है। बस वह सम्पूर्ण मन भगवान् में लगा दे। वह उनकी पूजा करे, उनको नमस्कार करे अर्थात् सम्पूर्ण समर्पण की भावना के साथ भगवान् की उपस्थिति महसूस करे। यह स्पष्ट है कि यदि साधक पूर्णरूपेण समर्पण की भावना से चैतन्य की उपस्थिति का लगातार अनुभव करता है तो उसका ध्यान परमतत्त्व में लगा रहेगा और वह परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लेगा। भगवान् के भक्त

बनने का अर्थ है कि वह भगवान् के अतिरिक्त किसी और पदार्थ की ओर आकृष्ट न हो। जैसा नारदजी कहते हैं कि भगवान् की पूजा करने का अर्थ है - भगवान् से परम प्रेम करना। अट्ठारहवें अध्याय के 65वें श्लोक का पहला चरण साधक की भगवान् के प्रति आन्तरिक भावना को बताता है और दूसरा चरण बाह्य आचरण पर बल डालता है। 66वें श्लोक का पहला चरण कहता है कि साधक को धर्म के किसी भी स्वरूप के विषय में चिन्ता नहीं करनी चाहिये। प्रत्युत परमात्मा का ही सदैव स्मरण करना चाहिये।

वेद ऐसे कर्मों का विधान करते हैं जो स्वर्ग आदि फल देते हैं। वे सकाम कर्म हैं परन्तु यदि उनका विधान शास्त्र में प्रतिपादित विधि के अनुसार किया जाता है तो व्यक्ति में ऐसी योग्यता आ जाती है कि वह उन कर्मों का अनुष्ठान फल की इच्छा के बिना भी कर सकता है। यह तथ्य उस बालक के उदाहरण से समझा जा सकता है जिसमें पहले मिठाई या पारितोषिक का लोभ देकर अध्ययन के प्रति रुचि पैदा की जाती है और बाद में उसको किसी वस्तु के लोभ के बिना दूसरे विषयों को सीखने के लिये प्रेरित किया जाता है।

बाबाजी हकीकतराय की कहानी सुनाते हैं। इस कहानी का प्रयोजन यह समझाना है कि जिस परिवार में हकीकत ने जन्म लिया था सिद्धान्तों के प्रति समर्पित उस परिवार का 12 वर्ष का आदर्श हिन्दू बालक था। परिवार में पालन-पोषण के तरीके के कारण या पूर्व जन्मों के संस्कारों के प्रभाव से उसका अपने धर्म के प्रति दृढ़ विश्वास था। एक बार अध्यापक किसी काम से कक्षा से बाहर चले गये थे। कक्षा के अन्य मुसलमान बालकों ने ऊधम मचाना शुरु कर दिया था। हकीकतराय कक्षा के एक कोने में शान्त बैठा था। दूसरे बच्चों ने उसका उपहास करना प्रारम्भ कर दिया। वे हकीकतराय से पूछने लगे कि उसने सिर पर चुटिया क्यों रखी हुई है? वे उससे अपने साथ मिलकर खेलने को भी कहने लगे। परन्तु हकीकत ने वैसा नहीं किया क्योंकि उसका यह विश्वास था कि एक छात्र का कर्तव्य अध्ययन करना होता है। उसने उन मुस्लिम बालकों से प्रतिप्रश्न किया कि उनके समुदाय में लोग बकरे की तरह दाढ़ी क्यों रखते है? फिर उसने कहा, "मुझे

भगवान् की, देवी मां की सौगन्ध है कि मैं तुम लोगों के साथ नहीं खेलूंगा।" फिर भी मुस्लिम बालक मुंह बना कर उसे चिढ़ाते रहे, तंग करते रहे। हकीकत ने कहा कि यदि वे अपना व्यवहार ठीक नहीं करते हैं तो वे अपने धर्मग्रन्थ का उल्लंघन करेंगे। वे उसको एक मौलवी के पास ले गये जो हकीकत की दृढ़ता तथा उसकी धर्म के प्रति निष्ठा से बहुत ही प्रभावित हुआ। उसने अच्छे जीवन के अनेक प्रलोभन दिये और हकीकत से धर्मपरिवर्तन करके मुस्लिम धर्म ग्रहण करने को कहा और आश्वासन दिया कि उसका एक अच्छी मुस्लिम लड़की से विवाह करवा दिया जायेगा। लेकिन हकीकत ने अपने धर्म के प्रति दृढ़ता बनाए रखी और पूछा कि क्या मुसलमान मरते नहीं है? यदि वे भी मरते हैं तो इस मरणशील शरीर के लिये धर्मपरिवर्तन करने का प्रयोजन क्या है? हकीकत ने किसी भी शर्त पर धर्मपरिवर्तन नहीं किया। अपने धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा के कारण हकीकत को हथकड़ी पहना कर जेल में डाल दिया गया। इस प्रकार का व्यवहार यह सूचित करता है कि हकीकतराय स्थिरमति था। वह अमीर व्यापारी घराने से था। उसके माता-पिता ने भी उससे धर्म बदलने के लिये कहा क्योंकि ऐसा न करने पर उसको मार दिया जायेगा। फिर भी वह अडिग रहा और इस बात की भी परवाह नहीं की कि उसे कठोर दण्ड दिया जा रहा है। जब उसने मुस्लिम धर्म न अपनाने का अपना इरादा नहीं बदला तो उसे जल्लाद को सौंप दिया गया। परन्तु जल्लाद ने उसके मुख पर ईमानदारी के तेज को देख कर हकीकत को मारने से इनकार कर दिया। जब जल्लाद ने हकीकत को नहीं मारा तो उसको भी कारागार में डाल दिया गया। बाद में हकीकत को किसी और जल्लाद के द्वारा मरवा दिया गया। हकीकतराय ने धर्म के लिये अपना जीवन न्योछावर कर दिया - यह समाचार अदृश्य पुष्पों की सुगन्ध की भाँति फैल गया।

इस कहानी के सुनाने का प्रयोजन यह शिक्षा देना है कि हमें अपने शरीर को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। तथापि परम सत्य के स्वरूप को जानने का यह शरीर एक बहुत बड़ा साधन है। हमें सुख देने वाले इन्द्रिय के विषयों को छोड़ने के लिये सदैव तैयार रहना

चाहिये ताकि हम अपने अन्दर गहरी डुबकी लगा सकें जिससे हमारा चैतन्यस्वरूप प्रकट हो जाये। महापुरुषों के जीवन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम तभी अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं जब हम आत्मा के महत्त्व को भलीभाँति आत्मसात् कर लें और आध्यात्मिक साधना करते हुए अपने पथ पर अडिग रहें। श्रीरामकृष्ण परमहंस को माँ काली ने तब दर्शन दिये जब वे माँ के दर्शन के लिये अपने आप को मारने के लिये उद्यत हो गये थे। उनके खड्ग उठाते ही माँ काली उनके सामने प्रकट हो गई। ऐसी ही घटना स्वामी रामतीर्थ के साथ घटी। जब उन्होंने श्रीकृष्ण को नहीं देखा तो वे नर्मदा में कूद पड़े। ऐसा सुना जाता है कि श्रीकृष्ण ने स्वयं उनको नर्मदा नदी से बचाया था। जब हम शरीर के साथ तादात्म्याध्यास को पूर्णरूप से त्याग देते हैं तभी हम आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। यही बात भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कही थी जब अर्जुन विषादग्रस्त हो गया था और युद्धभूमि में युद्ध करने से बच रहा था। भगवान् ने कहा कि जो कुछ हम इन्द्रियों से अनुभव करते हैं वह नित्य नहीं है। ये इन्द्रियों से होने वाले सुख तथा दुःख आने जाने वाले हैं। इसीलिये हमें उनको सहन करने का अभ्यास करना चाहिये। जब ऐसा कर लिया जाता है तब शरीर के साथ तादात्म्य की भावना से ऊपर उठना आसान हो जाता है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। भ. गी., 2.14.

जब अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहता था तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देना प्रारम्भ किया, यह समझाने के लिये कि आत्मा नित्य है और इसके अतिरिक्त सब अनित्य है तथा महाभारत के युद्ध में मरने वालों के विषय में चिन्ता नहीं करनी चाहिये। यदि शरीर के साथ तादात्म्य शिथिल हो जाता है तो युद्धभूमि में युद्ध करने के लिये उपस्थित गुरु द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह तथा अन्य पारिवारिक सम्बन्धियों के वध की परवाह और चिन्ता को दबाया जा सकता था और शास्त्रों के द्वारा बताये गए सिद्धान्तों के आधार पर अर्जुन अपने कर्तव्य का निर्वहन करने में समर्थ हो सकता था।

बाबाजी कहते हैं कि सांसारिक लोग रात में विलम्ब से सोते हैं और प्रातः देर से उठते हैं जबकि योगी रात में समय से सो जाते हैं तथा प्रातः शीघ्र उठ जाते हैं ताकि परम सत्य पर ध्यान लगा सकें। यहां उन्होंने अपने जीवन से सम्बन्धित एक घटना सुनाई। उन्होंने कहा कि वे एक बार किसी मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठे थे जहां कोई व्यक्ति साधुओं को पैसे दे रहा था। वह बाबाजी को भी कुछ पैसे देना चाहता था लेकिन बाबाजी ने मना कर दिया। तब उसने बाबाजी को और अधिक पैसे देने की कोशिश की। फिर भी बाबाजी ने स्वीकार नहीं किया। यह देख कर एक साधु ने पैसे देने वाले से कहा, "आप इस साधु को पैसे देने पर जोर क्यों डाल रहे हैं? यह पागल हो गया है कि एक आना देने पर भी नहीं ले रहा है।" देने वाले तथा उस साधु की दृष्टि में भेद था। दान देने वाला सहायता करने की दृष्टि से उनको पैसे दे रहा है जबकि बाबाजी संन्यास की अवस्था में थे जिसमें पैसों का कोई महत्त्व नहीं था क्योंकि बाबाजी पूर्णरूप से सतत आत्मज्ञान में स्थित थे। उन्होंने भिक्षावृत्ति को भी त्याग दिया था और वे सर्वथा प्रारब्ध पर ही निर्भर थे। उनका ध्यान ऐसी अवस्था की ओर था जिसमें यह अनुभव हो जाये कि वासुदेव ही सब कुछ है (वासुदेवः सर्वम्)। वे वह खाते थे जो उनके पास बिना मांगे आ जाता था तथा यदि अपने आप नहीं आता था तो वे बिना भोजन के ही रह जाते थे। वे यह कहा करते थे कि कामना, अहंकार तथा स्पृहा - ये तीनों मिलकर एक दृढ़ बन्धन हैं। उनसे मुक्त होना अत्यन्त कठिन है (630)। जो इन तीनों से मुक्त हो जाता है वह ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लेता है। यदि मृत्यु तक ब्रह्मावस्था प्राप्त हो जाती है तो व्यक्ति परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है (631)।

इच्छा तथा लोभ में थोड़ा अन्तर है। तृप्त होने के पश्चात् व्यक्ति कुछ अधिक चाहता है। यह लोभ है। यदि हम उस वस्तु से वंचित नहीं हो सकते जो किसी काम की नहीं है तो यह ममतामयी लालसा है। जो व्यक्ति अहंकार से मुक्त हो गया है वह घमण्ड तथा प्रदर्शन की भावना से भी ऊपर उठ गया है। उसने ब्रह्म की प्राप्ति कर ली है। जैसे नदियां समुद्र में गिरें या न गिरें इससे समुद्र को कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता

है। ठीक इसी प्रकार जिसने ब्रह्मभाव की प्राप्ति कर ली है उस पर इच्छाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह दुःखी नहीं होता और न ही आह्लादित होता है जब कोई सुखद या दुःखद स्थिति उसके सामने उपस्थित होती है।

केवल इन्द्रियनिग्रह से व्यक्ति को साक्षात्कार नहीं होता है। साधक को पूरे मन से भगवान् के प्रति समर्पित होना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, उसको परम सत्य से अतिरिक्त किसी और वस्तु का विचार नहीं करना चाहिये। यदि उसने भगवान् का ध्यान त्याग दिया है तो यह हो सकता है कि वह सांसारिक पदार्थों की ओर ध्यान देने लग जाये। तब यह हो सकता है कि वह आध्यात्मिक मार्ग से विचलित हो जाये। अज्ञान का बीज तो तभी नष्ट होता है जब व्यक्ति आत्यन्तिक निष्कामता प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मज्ञानी शरीरभाव से ऊपर उठ चुका होता है। कुछ न कुछ करते हुए दिखना तो उसके लिये केवल खेल है। यदि कोई स्थितप्रज्ञ व्यक्ति पदार्थों का उपयोग करता है तो वह उनमें रमण नहीं करता है। सांसारिक पदार्थों को देखना या अनुभव करना उसके लिये एक खेल है।

बाबाजी मानव के पांच ऋणों के बारे में बताते हैं जो उसे चुकाने पड़ते हैं : 1. देव ऋण 2. मनुष्य ऋण 3. ऋषि ऋण 4. पितृ ऋण तथा 5. भूत ऋण। यदि कोई प्रश्न करे, "हमने इनसे ऋण कब लिया?" तो इसका उत्तर यह है: सूर्य तथा चन्द्रमा प्रकाश देते हैं। अग्नि से हमें गर्मी मिलती है। इससे हम रोटी पकाते हैं। इन्द्र वर्षा के रूप में हमें जल देता है। हम पृथिवी के ऊपर रहते हैं। यह हमें अन्न देती है। यदि हम इनसे ऋण न लें तो जीवन जीना असंभव है। ये हमें जीवन जीने के लिये आवश्यक साधन देते हैं। ये सब देवता हैं। और हम इनके ऋणी हैं। इनका ऋण चुकाने के लिये हम सूर्य को जल देते हैं, इन्द्र तथा अन्य देवताओं को यज्ञ, हवन तथा धूप दीप से प्रसन्न करते हैं। यदि ये प्रसन्न हो जाते हैं तो हम देव ऋण से मुक्त हो जाते हैं। पितृगण को तर्पण देने से हम पितृ ऋण से उऋण हो जाते हैं। आचार्य, माता-पिता और अपने से वरिष्ठ लोगों की आज्ञा मानने से तथा उनको नमस्कार करने से हम मनुष्य ऋण से मुक्त हो जाते हैं।

गीता, रामायण तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन करके हम ऋषि ऋण चुका देते हैं। गाय, कौआ, चींटी, कुत्ता, मछली आदि को खिलाने से हम भूत ऋण से उऋण हो जाते हैं। जिनका जो देना है उनको उनका देयभाग देकर अर्थात् उन सबको खिला-पिला कर, उनकी तृप्ति करा कर जो भोजन करता है वह भगवान् की पूजा करता है। उसका मन पवित्र हो जाता है और उसकी साधना में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं होता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म न करने से आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। कोई भी व्यक्ति केवल संन्यास लेने से सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये यह श्रेयस्कर है कि व्यक्ति कर्म करे। यदि कोई व्यक्ति यह प्रश्न करता है कि कर्म तथा ज्ञान में कौन वरणीय है? तो बाबाजी कहते हैं कि कर्म अधिक कल्याणकारी है क्योंकि कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना नहीं रह सकता। ऐसा कोई समय नहीं है जब हम कर्म न करते हों। यदि आप चलते नहीं है तो बैठना अपने आप में कर्म है। यदि आप भोजन नहीं करते हैं तो भूखा रहना भी कर्म है। आप यदि कोई शारीरिक क्रिया नहीं करते हैं तो जो कुछ मन में घटित हो रहा है वह कर्म है। इसलिये यदि कोई बिना फल की कामना के कर्म करता है तो वह निश्चित रूप से उससे अच्छा है जो किसी भी कर्म करने से बचता है।

बाबाजी तीन प्रकार की रात्रियों का वर्णन करते हैं : कालरात्रि, महारात्रि तथा मोहरात्रि और चौथी है शिवरात्रि। कालरात्रि नित्य होती है। महारात्रि महाप्रलय की रात्रि है। शिवरात्रि तुरीयरात्रि है, यह तुरीय अवस्था अर्थात् समाधि की अवस्था है, जो आकाशपुष्प उपलब्ध करने के समान कठिन है। इस रात्रि की महिमा का बखान नहीं किया जा सकता है। ब्रह्मा जी भी इसकी महिमा गाने में असमर्थ हैं। शिवजी की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है? शिवरात्रि को भगवान् शिव तथा पार्वती का विवाह हुआ था। शिव ब्रह्म हैं, चेतन हैं और पार्वती प्रकृति है, जड़ है जो शिव के साथ संयोग से चेतनता को प्राप्त कर लेती है। जो व्यक्ति कनक तथा कामिनी में नहीं फंसता है वह शिव से भिन्न नहीं है। जो स्त्री कामनाशून्य है वह पार्वती ही

है। शिवरात्रि में जगना इस तथ्य का सूचक है कि हम शिव को तभी प्राप्त कर सकते हैं जब हम शिव की पूजा, उपासना करने में अत्यन्त सावधान हों। भक्ति अत्यन्त आवश्यक है और भगवान् के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है। परम प्रेम का अर्थ है कि हम सतत बिना किसी व्यवधान के भगवान् के प्रति सावधान रहें तथा भगवान् का ही सतत ध्यान करते रहें। यह परम प्रेम ही है जो हमें परमात्मा का साक्षात्कार करने के योग्य बना देता है। इस प्रकार का प्रेम ज्ञान से भिन्न हो ही नहीं सकता।

हम अपराध करना नहीं चाहते लेकिन कोई ऐसी चीज़ है जो हमें अपराध करने के लिये विवश करती है।श्रीकृष्ण कहते हैं यह काम है जो हमें अपराध करने पर विवश करता है। यह काम रजोगुण का कार्य है। काम, क्रोध और लोभ हमसे बलात् अनुचित कर्म करवाते हैं। यदि हमारी इच्छा पूरी नहीं होती है तो हमें क्रोध आता है और यदि इच्छा पूरी हो जाती है लोभ की उत्पत्ति होती है। हमारा ज्ञान (स्वरूप) इच्छा से ढका रहता है जैसे धुएं से आग, गन्दगी से दर्पण तथा खेड़ी (placenta) से गर्भ ढका रहता है। इच्छा आग है जिसे कभी तृप्त नहीं किया जा सकता और यह ज्ञान की नित्य शत्रु है। किसी व्यक्ति को यह महसूस हो सकता है कि इच्छा को पूरा करने से खुशी मिलती है लेकिन इच्छा को पूरी करने की प्रक्रिया शत्रु के द्वारा विषसंपृक्त मिष्टान्न खिलाये जाने के समान है। जैसे घी डालने से आग बढ़ती है इसी प्रकार इच्छा भी कभी पूरी तरह से तृप्त नहीं हो सकती। संन्यास या त्याग ही इच्छा से मुक्ति दिला सकता है।

बाबाजी के जीवन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इच्छाओं से सर्वथा मुक्त थे और अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित थे। वे जीवन्मुक्त थे। यह जानना प्रसंग के अनुकूल है कि जीवन्मुक्ति क्या है? जीवन्मुक्ति का स्वरूप विवादग्रस्त है। ब्रह्मसिद्धि के रचयिता मण्डनमिश्र जीवन्मुक्ति को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार मुक्ति केवल तब होती जब व्यक्ति साक्षात्कार होने के पश्चात् मृत्यु होने पर शरीर छोड़ देता है। यद्यपि वाचस्पतिमिश्र अद्वैत दर्शन की अवधारणाओं में मण्डनमिश्र का अनुसरण करते हैं तथापि वे जीवन्मुक्ति के संदर्भ में मण्डनमिश्र का

अनुसरण करते हुए प्रतीत नहीं होते। जो मण्डनमिश्र का अनुसरण करते हैं वे छान्दोग्य उपनिषद् (6. 4.12) के इस कथन को उद्धृत करते हैं "तस्य तावदेव चिरं यावद् विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये।" इसका अर्थ है: "उसके लिये (मुक्त होने में) उतना ही विलम्ब है जब तक कि वह देहबन्धन से मुक्त नहीं हो जाता। उसके बाद उसकी सत् से सम्पत्ति हो जाती है अर्थात् वह ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है।" वाचस्पति शंकराचार्य यह मत मानते हुए प्रतीत होते हैं कि जिस व्यक्ति को आत्मानुभव हो गया है वह प्रारब्ध कर्म के क्षय होने तक जीवित रहता है। उपर्युक्त उपनिषद् वाक्य पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य कहते हैं: "अतो ब्रह्मविदो जीवनप्रयोजनाभावेऽपि प्रवृत्तफलानां कर्मणामवश्यमेव फलोपभोगः स्यादिति मुक्तेषुवत्।" "अतः जीवन आदि का प्रयोजन न होने पर भी ब्रह्मवेत्ता को प्रवृत्त फल वाले कर्मों के फलों का उपभोग तो करना ही पड़ता है, छोड़े हुए तीर के समान।" जैसे छोड़ा हुआ तीर लक्ष्य तक पहुंचता ही है क्योंकि जो गति उसे दी गई है वह अपना कार्य पूरा करेगी। ठीक उसी प्रकार प्रारब्ध कर्म के फल भोगने तक शरीर रहता ही है और शरीर के पात के साथ ही ब्रह्मभाव को प्राप्त जीव सत्सम्पन्न हो जाता है। इससे बचा नहीं जा सकता। विमुक्तश्च विमुच्यते (कठोपनिषद् 5.1) यह स्पष्ट रूप से कहता है कि मुक्त व्यक्ति फिर मुक्त होता जब वह देह त्यागता है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन्मुक्ति होती है।

इस संदर्भ में यह उचित प्रतीत होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता का 4.14 वां श्लोक उद्धृत किया जाये :

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः।।

इसमें तत्त्वदर्शी के पास जाने को कहा गया ताकि उनके पास जाने से जिज्ञासु को ज्ञान की प्राप्ति हो सके। यह कैसे संभव है कि तत्त्वदर्शी मन तथा इन्द्रिय से संयुक्त देह के बिना ज्ञान के विषय में उपदेश करे? 'तत्त्वदर्शिनः' शब्द के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता जीवन्मुक्ति के तथ्य को स्वीकार करती है।

जीवन्मुक्ति क्या है? योगवासिष्ठ के अनुसार जीवन्मुक्त वह है जिसने अहंभाव पर विजय प्राप्त कर ली है तथा जिसकी बुद्धि उन कर्मों में नहीं लिप्त होती है जो उसके द्वारा किये जा रहे हैं।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते।। योगवासिष्ठ, 3.9.9

यद्यपि एक व्यक्ति के पास बुद्धि है परन्तु फिर भी वह ऐसे कर्म कर सकता है जैसे कि उसके पास मन-बुद्धि ही न हो। यह तब होता जब व्यक्ति ने अपने मन पर पूरा नियन्त्रण कर लिया हो। इसका अर्थ यह है कि जब उसने अमनीभाव की अवस्था प्राप्त कर ली है। अमनीभाव की स्थिति प्राप्त करने पर व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है : सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते। वही, 3.9.12.

माया के द्वारा उत्पन्न जाग्रत् अवस्था के जागतिक पदार्थों को ऐसा व्यक्ति अपने अन्दर विद्यमान मानता है जैसे मन से उत्पन्न किये हुए स्वाप्न पदार्थ अन्दर विद्यमान होते हैं जबकि वे स्वप्नावस्था में निद्रा के प्रभाव के कारण बाहर प्रतीत होते हैं। यहां निद्रा की तुलना माया से की जा सकती है :

यथा स्वप्नप्रपञ्चोऽयं मयि मायाजृम्भितः।। सूतसंहिता, मक, 5.29

तथा जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि मयि मायाजृम्भितः।। वही, 5.30

जीवन्मुक्ति के तथ्य को तर्कसंगत प्रमाणित करने के पश्चात् यह समस्या प्रस्तुत होती है कि आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर जीवन की विद्यमानता को कैसे युक्तिसंगत सिद्ध करें? चित्सुखाचार्य कहते हैं कि अज्ञान के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति उसी शरीर के साथ कैसे रह सकता है जबकि वे शरीर, मन, इन्द्रिय आदि अज्ञान के ही कार्य हैं। अपने गुरु ज्ञानोत्तम का अनुसरण करते हुए वे कहते हैं कि आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् अविद्या का लेश अवश्य विद्यमान रहता है। यह अविद्या का लेश ही आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् जीवन को युक्तिसंगत ठहराता है और यह अविद्या का लेश प्रारब्ध कर्म के समाप्त होने तक रहता है। परन्तु मधुसूदन सरस्वती का मत भिन्न है। वे कहते हैं कि इसकी कोई अनिवार्यता नहीं है कि आत्मसाक्षात्कार (ब्रह्मप्राप्ति) के पश्चात् जीवन

को प्रमाणित करने के लिये अविद्यालेश की अवधारणा को स्वीकार किया जाये। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मुक्त पुरुष में कोई अविद्या नहीं रहती। आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् जो कुछ भी जीवन में घटित होता दिखाई देता है वह केवल प्रातीतिक ही है: जीवन्मुक्तश्च तत्त्वज्ञानेन निवृत्ताविद्योऽप्यनुवृत्तदेहादिप्रतिभासः। न च तत्त्वज्ञानादविद्या-नाशे सद्यः शरीरपातापत्तिः। निवृत्तसर्पभ्रमस्यापि संस्कारात् भयकम्पानुवृत्तिवत् दण्डसंयोगनाशेऽपि चक्रभ्रमणवच्च संस्कारा-नुवृत्तेरविद्यानिवृत्तावपि तत्कार्यानुवृत्तिसंभवात्। वे बहुत ही स्पष्टता से कहते हैं कि अज्ञान के नाश से शरीर नष्ट ही हो जायेगा यह आवश्यक नहीं है। अपनी अवधारणा के समर्थन में वे सर्प के भ्रम की समाप्ति के बाद भय तथा कम्पन के होते रहने का उदाहरण देते हैं। दूसरा उदाहरण चक्रभ्रमण का देते हैं जिसमें दण्ड हटाने के पश्चात् भी कुछ समय के लिये चक्र घूमता रहता है। वास्तविक रूप में यह कहा जा सकता है कि मुक्त पुरुष की दृष्टि में कोई व्यवहार नहीं होता अर्थात् जो कुछ वह करता है वह व्यावहारिक दृष्टि से सामान्य जन को प्रामाणिक लगता है लेकिन उसके लिये उसका कोई महत्त्व नहीं है। बाबा मस्तरामजी के जीवन की घटनाओं से भी यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। बाबाजी वर्तमान क्षण को महत्त्व देते थे जो जीवन्मुक्त व्यक्ति का लक्षण है। शंकराचार्य जी ने जीवन्मुक्त को विवेकचूडामणि के निम्नदत्त श्लोक (433) में परिभाषित किया है :

अतीताननुसंधानं भविष्यदविचारणम्।
औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।।

"जो अतीत का स्मरण नहीं करता है, भविष्य के विषय में कुछ विचार नहीं करता है तथा जो कुछ भी वर्तमान क्षण में घट रहा है उसके प्रति उदासीन रहता वह जीवन्मुक्त है।"

विवेकचूडामणि के इस पद्य के अनुसार जीवन्मुक्त अतीत काल में हुई चित्तवृत्तियों से अवशिष्ट संस्कारों से उत्पन्न स्मृति के प्रति उदासीनता का भाव रखता है और भविष्य से सम्बद्ध किसी प्रकार के विषय के प्रति उसका रुझान नहीं रहता। सर्वथा निर्लिप्त रहता है।

श्रीराम पर बाबाजी का प्रवचन

बाबाजी ने श्रीराम के जीवन पर नवरात्रों में नौ दिन तक प्रवचन दिये और आध्यात्मिक पहलू पर प्रकाश डालने के लिये रामायण के पात्रों की प्रतीकात्मक व्याख्या की जिससे भक्तों को आध्यात्मिक यात्रा में आगे बढ़ने के लिये प्रेरणा मिल सके। भगवान् श्रीराम की कथा उन लोगों के लिये है जो ज्ञान के इच्छुक हैं। भगवान् राम का अवतार यज्ञ के माध्यम से हुआ। राजा दशरथ ने पुत्र प्राप्त करने के लिये पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। भगवान् राम के जन्म के प्रसंग में यह कहा जाता है कि निराकार अग्नि ने यज्ञपुरुष का रूप धारण किया और प्रसन्नतापूर्वक पायस से पूर्ण कटोरा दिया। हम यह कह सकते हैं कि जो अग्नि से उत्पन्न होता वह अग्नि के समान होता है और श्रीराम में यह ज्ञानाग्नि ज्ञानोदय का प्रतीक है। तीन अग्नियां होती हैं : आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि - इन तीनों अग्नियों ने राजा दशरथ को पायस का कटोरा दिया। यही कारण है कि रामायण में ज्ञान की विपुलता है। जहां भक्ति का वर्णन है वह भी अधिकता में है। रामायण में यज्ञों का भी उल्लेख है क्योंकि अग्नि अपवित्रताओं को जला देती है तथा प्रकाश प्रदान करती है। रामशब्द में रेफ व्यञ्जन अग्नि का प्रतीक है जो सकल पापों को भस्म कर देता है। वैदिक अग्नि स्वर्ग प्रदान करती है और सामान्य अग्नि सबको भोजन देती है। आन्तरिक अग्नि सब अशुद्धियों को जला देती है। सूर्य की अग्नि अज्ञान तथा अज्ञान से उत्पन्न दुःख को समाप्त कर देती है। इन्द्रियों के विषयों से प्राप्त सुख तथा आत्मा के ध्यान में उपलब्ध आनन्द - इन दोनों में अग्नि की विद्यमानता है। इसलिये जो लोग श्रीराम का स्मरण करते हैं तथा उनका ध्यान करते हैं वे सकल पापों तथा दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। 'अकार' स्वर सूर्य का प्रतीक है और ज्ञान का स्रोत है। मकार चन्द्रमा का बीज है। यह आनन्द प्रदान करता है। रामशब्द ने बहुत सी महान् आत्माओं को संसारसमुद्र को पार करने में सहायता की है। रामशब्द तथा स्वयं राम में कोई अन्तर नहीं है।

रामायण में ज्ञान, भक्ति और कर्म का बहुत ही सुन्दर समन्वय हुआ है। यह सन्देह करना उचित नहीं है कि रामायण केवल प्रतीकात्मक ही तो नहीं है। यही विषय सती ने शिव से पूछा, भारद्वाज ने याज्ञवल्क्य से तथा काकभुशुण्डी ने गरुड़ से पूछा था। भगवान् रूपक तथा इतिहास दोनों भावों को लेकर प्रकट हुए। स्वतन्त्र होते हुए भी भगवान् भक्तों के कल्याण के लिये प्रकट होते हैं। श्रीराम के दर्शन होने पर जिस प्रकार का आनन्द भक्तों के हृदय में उमड़ता है वैसा ही आनन्द राजा दशरथ के महल में हुआ था जब श्रीराम वहां प्रकट हुए थे। भक्ति और ज्ञान भिन्न नहीं है। राम तथा ज्ञान में भी कोई विरोध नहीं है। श्रीराम केवल ज्ञान के प्रतीक हैं। भगवान् के दस मुख्य अवतार हैं जिनमें से राम एक हैं और वे ज्ञान, भक्ति और कर्म की स्थापना के लिये ही प्रकट हुए थे। भगवान् की ये चार अभिव्यक्तियां भगवान् के एकत्व को द्योतित करने के लिये हुईं जैसे प्रणव चार पादों में प्रकट होता है। भगवान् राम तुरीय मात्रा के प्रतीक हैं। भरत विष्णु के अवतार तथा लक्ष्मण शेष के अवतार हैं। शत्रुघ्न ब्रह्मा के अवतार थे जबकि जाम्बवन्त ब्रह्मा के अंशावतार थे। कुब्जा ने कैकेयी से कहा था कि यदि वह कोई त्रुटि कर रही है तो विधि उसे दण्ड दे। ये शत्रुघ्न ही थे जिन्होंने कुब्जा को पीटा था (340)। दशरथ का अर्थ है दस रूप। दस इन्द्रियों का रथ स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों रूप वाला होता है। यह उपनिषदों में कहा गया है कि इन्द्रिय घोड़े हैं। मन लगाम है और बुद्धि सारथि है। शिक्षित घोड़ों के समान शिक्षित इन्द्रियां भी ठीक चलती हैं। यदि मनरूपी लगाम का सही उपयोग नहीं किया जाता है तो इन्द्रियरूपी घोड़े रास्ते से भटक जाते हैं। दशरथ धर्म के भी प्रतीक हैं। जब भगवान् ने अवतार लिया तो दशरथ प्रसन्न थे और उन्होंने अपनी बाह्य सम्पत्ति को उदारता से बाँट दिया क्योंकि उनको आन्तरिक सम्पत्ति प्राप्त हो गई थी।

जब देवता राक्षसों के द्वारा सताए गये तब उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की और दशरथ ने पुत्र प्राप्त करने के लिये पुत्रेष्टि यज्ञ किया। फलस्वरूप चैत्र मास की अमावस्या के पश्चात् नौंवे दिन सर्वशक्तिमान् भगवान् शंख, चक्र आदि धारण किये हुए कौशल्या के समक्ष प्रकट हुए। कौशल्या ने कहा, "यह मेरा वरदान नहीं है। आप शिशु हो

जाइये।" कौशल्या ने भगवान् की स्तुति करके फिर उन्हें बालक रूप में स्वीकार किया। भगवान् सामान्य जन के समान गर्भ में नहीं आते हैं। हां, उन्होंने अपने भक्त की भावना का ध्यान रखते हुए ऐसा किया। और बालक के रूप में रोने लगे।

दशरथ के चार पुत्र थे मानो प्रणव की चार मात्राओं ने अपने आप को अभिव्यक्त कर दिया हो। एक बार जब राम दूसरे बालकों के साथ खेल रहे थे। जब दशरथ ने राम को बुलाया तो वे नहीं आए। लेकिन जब कौशल्या ने बुलाया तो वे आ गये। इस घटना की व्याख्या करते हुए बाबाजी ने कहा कि पिता ज्ञान का प्रतीक है और मां भक्ति की। भगवान् ज्ञान को उतना महत्त्व नहीं देते जितना कि भक्ति को।

विश्वामित्र दशरथ के पास आए और उनसे राम को यज्ञ की रक्षा करने के लिये अपने साथ भेजने का निवेदन किया। दशरथ ने मना कर दिया। जब गुरु वसिष्ठ ने उन्हें समझाया तो दशरथ ने लक्ष्मण के साथ राम को उनके साथ जाने की अनुमति दे दी। लक्ष्मण सदा राम के साथ रहते थे जैसे ज्ञान के साथ सदैव वैराग्य पाया जाता है। रास्ते में वे राक्षसी ताड़का से मिले। राम ताड़का को मारने से सकुचाए क्योंकि क्षत्रियों के लिये स्त्री का वध करना वर्जित है। लेकिन विश्वामित्र ने कहा, "ताड़का कालरात्रि है और उसने बहुत मनुष्यों का वध किया है।" गुरु की आज्ञा से श्रीराम ने ताड़का का वध किया जैसे साधक आसक्ति को समाप्त कर देता है। राम तथा लक्ष्मण ने यज्ञ की रक्षा की जैसे ज्ञान और वैराग्य आध्यात्मिक साधक की रक्षा करते हैं। जनकपुर से धनुषयज्ञ में उपस्थित होने का निमन्त्रण आया जिसको उन्होंने खुशी से स्वीकार कर लिया। रास्ते में उन्होने शिला के रूप में पड़ी हुई अहिल्या को देखा। विश्वामित्र के निर्देश पर राम ने उसको अपने चरण का स्पर्श करा दिया। वह शिला एक जीवित महिला के रूप में परिणत हो गई जैसे जड़ता चेतन हो गई हो। जब विश्वामित्र दोनों भाइयों के साथ जनकपुर पहुंचे तब जनकजी ज्ञान को भूल गये। अपने व्यक्तित्व को भूलकर वे श्रीराम के साथ एक हो गये (342)। जब रामजी ने धनुष को भंग कर दिया तब परशुराम वहां आ गये और उनका राम-लक्ष्मण के साथ संवाद प्रारम्भ हो गया। परशुराम

को 'राम ईश्वर है' – इसको लेकर संशय हुआ। उन्होंने राम की परीक्षा लेने के लिये धनुष देना चाहा लेकिन वह धनुष स्वतः श्रीराम के पास चला गया। इससे परशुराम को यह विश्वास हो गया कि 'राम ही ईश्वर हैं'। श्रीराम ने उस धनुष की प्रत्यञ्चा को चढ़ाया और परशुराम के ऐश्वर्य को नष्ट कर दिया। भगवान् श्रीराम के मुखकमल को देखकर सीताजी आनन्दित हो गईं। भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न का माण्डवी, उर्मिला तथा श्रुतकीर्ति से विवाह सम्पन्न हो गया।

बाबाजी कहते हैं कि कैकेयी जीवन्मुक्त थी और उसने ऐसा कार्य सम्पन्न किया जो रामायण की रचना का हेतु बना। भरत पर लगे कलंक ने भरत की कान्ति को और भी अधिक बढ़ाया। वे भक्त, ज्ञानी, कर्मयोगी तीनों के लिये उदाहरण बन गये। राम वन में चले गये। जब राम अयोध्या में थे तो लोग उनको बाहर देख लेते थे परन्तु जब राम वन में चले गये थे तो लोग उनको भीतर देखने लगे (343)। जब भरत को पता चला कि राम वन में गये हैं तो भरत पैदल ही उनको देखने चल दिये। ऐसा लगा कि मानो भक्ति ज्ञान से मिलने जा रही हो। ऋषि भारद्वाज को राम के प्रति भरत के प्रेम पर अत्यधिक आश्चर्य हुआ। श्रीराम माता-पिता की आज्ञारूप धर्म का पालन करने के लिये पुत्रवत् वन को गये लेकिन भरत तो अपने आप ही वन जा रहे थे। अयोध्या प्रवृत्ति की प्रतीक है और वन निवृत्ति का प्रतीक है। जब श्रीराम वन गये तब शान्ति थी लेकिन भरत के साथ शान्ति नहीं, विरह था। शत्रुघ्न भरत के पीछे जा रहे थे। मानो भक्ति के पीछे भाव जा रहा हो। वैराग्यसम्पन्न महात्माओं ने भरत की प्रशंसा की। भारद्वाज ऋषि ने कहा कि श्रीराम के दर्शन साधना के अभ्यास का फल है जबकि भरत के दर्शन श्रीराम के दर्शन का फल है। भरत का भक्तिपूर्ण आत्यन्तिक समर्पण एक आश्चर्य था। पहले तो श्रीराम प्रसन्न हुए। बाद में खिन्न हो गये कि अब धर्म और प्रेम की दलदल में फंसना होगा। भरत श्रीराम के प्रेम की मूर्ति हैं और लक्ष्मण वैराग्य की मूर्ति हैं। लक्ष्मण भरत के भाव को समझ नहीं पाये जैसे वैराग्य प्रेम को नहीं समझ पाता क्योंकि वैराग्य का प्रेम से विरोध स्वाभाविक होता है (345)। भक्त लोग अपने दोषों का ध्यान करते हैं और साथ ही यह

भी विश्वास रखते हैं कि भगवान् सर्वज्ञ होने के कारण उनके दोषों को क्षमा करके उनको अपना लेंगे। भक्त निषाद ने दूर से ही भरत को राम की कुटिया दिखाई। जब भरत वहां पहुंचे तब राम ऋषियों से बातें कर रहे थे। भरत 'पाहि माम्' 'पाहि माम्' कहते हुए राम के चरणों में दण्ड के समान गिर पड़े। लक्ष्मण अपने भाई भरत को नहीं देख पाये क्योंकि उनके मन में उस समय सेवा का भाव प्रबलतर था। रामजी ने भरत को उठाकर गले से लगाया। यह इतना भावनात्मक दृश्य था कि पत्थर भी पिघल गये। वसिष्ठ आदि चैतन्य प्राणी जड़वत् हो गये और वनवासी किरात आदि रोने लगे। विरहरूप मथानी से मथनें पर भरतरूप समुद्र से प्रेमा भक्ति प्रकट हुई। ऐसा अद्भुत प्रेम का दृश्य रामायण में ही उपलब्ध होता है जो सब ग्रन्थों का सार है। भक्ति, ज्ञान तथा कर्म इन सबका अत्यन्त स्पष्टता के साथ रामायण में ऐसा चित्रण हुआ है जैसे निर्मल दर्पण में प्रत्येक वस्तु साफ दिखाई देती है। भाइयों, माता-पिता, पिता-पुत्र, पति तथा पत्नी और राजा तथा प्रजा का प्रेमसम्बन्ध रामायण में भली-भाँति प्रतिपादित हुआ है।

क्या किया जाना चाहिये? इस विषय पर लम्बे भावनात्मक विचार-विमर्श के बाद भरत श्रीराम की आज्ञा से उनके प्रतिनिधि के रूप में उनकी खड़ाऊँ लेकर अयोध्या का प्रशासन संभालने के लिये अयोध्या लौट आये।

लक्ष्मण ने शूर्पणखा के नाक-कान काट डाले। इससे यह सूचित होता है कि जो लोग वेदों के विरुद्ध हैं उनके नाक-कान कटे हुए समझने चाहिये। इस घटना के कारण खर तथा दूषण का राम के साथ युद्ध हुआ। राम ने उनकी सेना का संहार क्षण भर में कर दिया। राक्षस मारीच ने रावण के कहने पर सोने के हरिण का रूप धारण कर लिया। सोने के हरिण को देख कर सीता जी के मन में उसकी चर्म को प्राप्त करने की इच्छा हुई और श्रीराम से उसको लाने का निवेदन किया। यह ऐसा था मानो प्रकृति ब्रह्मवृत्ति की प्रतीक सीता को लुभा रही थी। सोने का हरिण संभव नहीं है। यह दिखाने के लिये कि लोभ से अत्यन्त कष्ट होता है श्रीराम ने इस प्रकार की घटना को घटने दिया। धन का लोभ सीतारूपी मानसिक शान्ति को चुरा लेता

है। जटायू गिद्ध ने रावण को रोका जैसे शुभ भाव अशुभ भावों को रोकते हैं। उसने सीताजी को बचाने के लिये अपने प्राणों का बलिदान दे दिया और श्रीराम ने उसे सद्गति प्रदान की। जब ज्ञान जाता है तो वैराग्य उसके पीछे जाता है। जब राम मृगचर्म लेने के लिये गये तो लक्ष्मणजी सीताजी के कहने पर उनके पीछे गये। रावणरूपी अहंकार ने सीतारूपी ब्रह्मवृत्ति को चुरा लिया था।

जब राम सीता को ढूँढ़ रहे थे तब वे शबरी से मिले और उन्होंने उन बेरों को खाया जो शबरी ने चख कर रखे थे। लक्ष्मण ने उनको नहीं खाया। जब राम आगे बढ़े तो उस स्थान पर पहुंचे जहां सुग्रीव रह रहा था। सुग्रीव ने राम के बारे में सब कुछ जानने के लिये हनुमान् जी को भेजा। हनुमान् जी ने श्रीराम को पहचान लिया और राम तथा लक्ष्मण दोनों को अपने कन्धे पर बैठा कर सुग्रीव से मिलाने के लिये उसके पास ले आये। हनुमान् जी ने श्रीराम तथा सुग्रीव की मित्रता करा दी। निष्काम तथा सीधे-सरल हनुमान् जी बहुत बड़े भक्त थे। भगवान् ऐसे भक्तों के प्रति स्वाभाविक रूप से झुके रहते हैं। सुग्रीव ने रामजी की परीक्षा ली और वह आश्वस्त हो गया कि वे भगवान् हैं। श्रीराम ने सुग्रीव को बाली से युद्ध करने के लिये भेजा जबकि उन्होंने बाली को मारने के लिये अपने आपको एक वृक्ष के पीछे छिपा लिया क्योंकि बाली को यह वरदान था कि जो कोई उसके सामने आयेगा उसका आधा बल बाली को प्राप्त हो जायेगा। बाली को इस प्रकार मारना अनुचित नहीं था क्योंकि उसके वरदान को भी तो मान्यता प्रदान करनी थी। इसके अतिरिक्त बाली ने सुग्रीव की पत्नी को ज़बरदस्ती अपने पास रखा हुआ था। इसलिये वह अपने पापों के कारण मारा गया। बाद में सुग्रीव ने भी बाली की पत्नी तारा को अपने पास रखा लेकिन तारा की सहमति से उसने ऐसा किया। जब रावण सीताजी को आकाशमार्ग से ले जा रहा था तब सीताजी ने अपने आभूषणों को सुग्रीव के पास फेंक दिया था। लक्ष्मण केवल सीताजी के पायजेब पहचान पाये थे क्योंकि उन्होंने सीताजी को प्रणाम करते हुए उन्हीं को देखा था। उन्होंने किसी और अंग पर पहने हुए आभूषणों को नहीं देखा था। ऐसा अत्यधिक वैराग्य के कारण था। हनुमान् जी तथा

दूसरे वानर सीताजी को ढूँढ़ने के लिये दक्षिण दिशा की ओर गये। हनुमान् जी सम्पाती से मिले। उसने बता दिया कि सीताजी कहां हैं? विवेक के अवतार हनुमान् जी लंका की ओर उड़े जहां इच्छा और लोभ विद्यमान ही नहीं थे बल्कि लगातार बढ़ रहे थे। हनुमान् जी ने रात में देखा लेकिन ढूँढ़ नहीं पाये। तब उन्होंने प्रातः विभीषण को राम नाम का उच्चारण करते सुना। उन्हें यह आश्चर्य हुआ कि अशुभ विचारों के बीच यह सद्वृत्ति (शुभ विचार) कैसे विद्यमान है? विभीषण की सहायता से वे अशोक वाटिका तक पहुंच गये। उचित अवसर देखकर हनुमान् जी ने सीताजी को वह अंगूठी दे दी जो श्रीराम ने उनको दी थी। पहले सीताजी को हनुमान् जी पर सन्देह हुआ लेकिन बातचीत के बाद सीताजी का सन्देह दूर हो गया। सीता मां को देखने के बाद हनुमान् जी को भूख लगी जबकि उन्होंने तब खाने को मना कर दिया था जब पहले मैनाक पर्वत ने उनसे कुछ फल खाने को कहा था। सीताजी की अनुमति से उन्होंने अशोक वाटिका को नष्ट कर दिया।

रावण ने अक्षय को हनुमान् जी से युद्ध करने के लिये भेजा परन्तु हनुमान् जी ने एक थप्पड़ मार कर उसका वध कर दिया। जब मेघनाद आया तो हनुमान् जी ने रावण को देखने के लिये अपने आप को ब्रह्मास्त्र में बंधने दिया हालाकि उनको यह वरदान था कि उन पर ब्रह्मास्त्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। हनुमान् जी ने रावण को खरी-खोटी सुनाई। रावण के कहने पर राक्षसों ने हनुमान् जी की पूँछ में तेल-घी से चुपड़े कपड़े बाँधकर आग लगा दी। हनुमान् जी ने दीर्घ रूप धारण कर लिया और लंका को जला डाला और फिर छोटे हो गये। भवबन्धन से छूटने के दो उपाय हैं। एक छोटा हो जाना, इसे भक्तिमार्ग कहते हैं और दूसरा है ज्ञानमार्ग - एक झटका देकर छूट जाना। यद्यपि हनुमान् जी के पास ज्ञान था, लेकिन वे भक्ति को अधिक महत्त्व देते थे। हनुमान् जी के द्वारा लगाई आग ने वह घर नहीं जलाया जहां भक्त विभीषण रहते थे। तब हनुमान् जी ने सीताजी से आशीर्वाद लिया। सीताजी ने उनको एक आभूषण दिया उसको लेकर वे श्रीराम के पास आ गये।

जब रामजी की सेना समुद्र पर पहुंची तो राक्षस सोच रहे थे कि एक बन्दर के द्वारा सारी लंका जला दी गई यदि इतने बन्दर एक साथ आ गये तो क्या होगा? इसलिये सब राक्षस भयभीत हो गये थे। विभीषण ने रावण से युद्ध न करने को कहा। मानो सद्विचार दुर्विचार पर काबू पाने की कोशिश कर रहा हो। उसने कहा कि सीताजी श्रीराम को लौटा देनी चाहिये परन्तु रावण ने विभीषण की बात की ओर कोई ध्यान नहीं दिया बल्कि उसे क्रुद्ध होकर लात मार दी। विभीषण चार मन्त्रियों के साथ श्रीराम के पास आ गया। श्रीराम ने विभीषण को शरण दी और उसे लंका का राजा बनाने का वचन भी दे दिया। राम ने विभीषण से समुद्र को पार करके लंका तक पहुंचने का उपाय पूछा। रामजी ने पूछा, "समुद्र पार कैसे होना चाहिये?" विभीषण ने कहा, "समुद्र आपका कुलगुरु है, अतः आप उनसे विनय कीजिये।" विनय करने पर भी समुद्र ने विनय के अनुकूल कोई व्यवहार नहीं किया। तब समुद्र की ओर से अनुकूल क्रिया न होने पर लक्ष्मण ने कहा, "दैव-दैव आलसी पुकारते हैं। आप धनुष लीजिये और समुद्र को सोख लीजिए।" रामजी ने कहा, "धीरज रखो, आवश्यकता पड़ी तो वैसा भी करूँगा।" तीन दिन बीत गये। रामजी ने कहा कि जड़ समुद्र बिना भय के मानेगा नहीं, अतः धनुष लाओ। समुद्र डर गया। समुद्र पर लंका के लिये पुल बनने लगा। नल और नील पत्थरों पर 'रा' तथा 'म' लिखकर उन्हें समुद्र में डालने लगे। पत्थर समुद्र में तैर कर आपस में मिलने लगे और पुल तैयार हो गया। रामजी सेना सहित पुल पार कर गये। वानर-सेना लंका पहुंच गयी।

अंगद रावण के दरबार में गया और रावण को समझाने लगा कि वह श्रीराम को सीताजी को वापिस लौटा दे। लेकिन रावण ने अंगद की बात को नहीं माना। तब अंगद ने अपना पैर धरती पर रोप दिया और कहा कि यदि कोई उसका पैर हिला देगा तो वह सीतामाता को हार के चला जायेगा। लेकिन रावण के दरबार में कोई भी अंगद के पैर को हिला नहीं पाया।

युद्ध शुरु हो गया। लक्ष्मणजी को शक्ति लग गई। रामजी विलाप करने लगे। हनुमान् जी संजीवनी लेने हिमालय में आये। वहां बहुत

सी जड़ी-बूटी देखी। पहचान नहीं पाये। अतः पहाड़ को ही उठाकर चल दिये। रास्ते में यह 'हनुमान् शिला' गिर पड़ी । बाबाजी कहते हैं कि इसका उल्लेख पुराणों में आया है। भरतजी को संशय हुआ कि कोई निशाचर पहाड़ ले जा रहा है। भरतजी ने बाण मार दिया तो हनुमान् जी 'राम' 'राम' कहते बेहोश होकर नीचे गिर पड़े। चेतना आने पर भरतजी ने हनुमान् जी को अपने बाण से श्रीराम के पास पहुंचाने को कहा लेकिन हनुमान् जी स्वयं ही शीघ्रता से पहुंच गये और लक्ष्मणजी संजीवनी से होश में आ गये। युद्ध होने पर लक्ष्मण जी ने मेघनाद का वध कर दिया। कुम्भकर्ण भी रामजी के द्वारा मारा गया। अन्त में श्रीराम ने रावण का वध किया। रामनाम लेते हुए रावण ने अपने प्राण त्याग दिये। रामजी पुष्पक विमान में अयोध्या आये। हनुमान् जी ने सबसे पहले भरतजी को रामजी के संनिकट आगमन की सूचना दी।

श्रीराम के प्रेरित करने पर हनुमान् जी भरतजी के पास गये जैसे मानो भगवान् की प्राप्ति के पहले विवेक आ जाता है और जैसे सूर्योदय से पहले उषा का आगमन होता है। हनुमान् जी ने देखा कि भरत क्षीण हो गये थे परन्तु उनके मुखमण्डल पर तेज छिटक रहा था जैसे तपस्या के साथ त्याग चमक रहा हो (357)। भरतजी ध्यान कर रहे थे। हनुमान् जी ने कहा "जय श्रीराम! रामजी पुष्पक विमान से आ रहे हैं।" भरतजी में सहसा प्रसन्नता उमड़ पड़ी क्योंकि हनुमान् जी प्रातः की उषा से भी अधिक प्रसन्नता देने वाले थे। यह समाचार प्रकाश के समान चारों ओर फैल गया। सबके मन प्रसन्नता से नाचने लगे। श्रीराम पुष्पक विमान से पहले उतरे। तदनन्तर सीताजी, लक्ष्मणजी और अन्य उतरे। भरतजी ने आँखों के आँसूओं से ही रामजी के चरणों का प्रक्षालन किया। कृत्रिम अर्घ्य की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। स्वतः आंसू रामजी के चरणों पर गिर रहे थे। बाहर का जल पड़ा रह गया। सबका यही हाल था। उस समय का आनन्द अवर्णनीय था। भरतजी का राम के साथ ऐसा सम्बन्ध था जैसे प्रेम तथा त्याग का होता है जबकि त्याग तथा प्रेम एक ही हैं। यदि कोई किसी से प्रेम करता है तो वह उसके लिये सब कुछ त्याग कर देता

है। जब राम और भरत मिले तब त्याग तथा प्रेम की दूरी समाप्त हो गयी थी। भरत और श्रीराम के मिलन पर अत्यन्त शान्ति थी और उस समय श्रीराम सबसे एक साथ मिल लिये थे। ऐसा त्याग और प्रेम जिसमें होता है वह साधक श्रीराम को प्राप्त करने के योग्य होता है।

गुरु वसिष्ठ के द्वारा श्रीराम का राज्याभिषेक होने के पश्चात् भरत ने उनसे सन्त तथा असन्त के लक्षण पूछे। श्रीराम ने कुल्हाड़ी तथा चन्दन की लकड़ी का उदाहरण देकर समझाया। कुल्हाड़ी चन्दन की लकड़ी को काटती है लेकिन फिर भी चन्दन की लकड़ी कुल्हाड़ी को सुगन्धित कर देती है। यही कारण है कि चन्दन को देवताओं पर चढ़ाया जाता है जबकि कुल्हाड़ी को आग में तपा कर हथोड़े से पीटा जाता है। श्रीराम ने सन्त तथा दुर्जन दोनों के और भी लक्षण बताए थे। 'नर तनु पाइ विषय मन देही' 'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा' आदि सुन्दर-सुन्दर उपदेश दिये। इस प्रकार की बहुत सी अच्छी बातें रामायण में कही गई हैं जो आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत ही उपयोगी हैं। इस मानव शरीर को प्राप्त करके हम इन्द्रियों के विषयों के भोग के प्रति आकृष्ट होते हैं लेकिन यह उचित नहीं है। इसी कारण रामायण में यह बताया गया है कि आध्यात्मिक नियमों का पालन करने से हमें अपने मन को पवित्र करके मुक्ति प्राप्त करने में सहायता मिलती है। यह भी बताया गया है कि हमें यह मानव शरीर सेवा, त्याग तथा प्रेम के लिये प्राप्त हुआ है। जो लोग मानव शरीर को प्राप्त करके इन्द्रियों के विषयों को भोगते हैं वे आत्मघाती हैं क्योंकि यह तो हीरे को देकर घुँघची लेना है, अमृत को बेचकर विष लेना है। इस प्रकार श्रीराम ने ज्ञान तथा वैराग्य का उपदेश दिया। यदि विषयों का सेवन करना ही पड़े तो निष्काम तथा निःस्वार्थ भाव से करना चाहिये।

हनुमान् जी की तुलना विवेक से की गयी है जो सीतारूपी शान्ति को प्राप्त करने में सहायता करता है और जो ज्ञान वैराग्य (राम और लक्ष्मण) की अहिरावणरूप संशय से रक्षा करता है।

भद्रक नामक गुप्तचर ने श्रीराम को सूचना दी कि एक धोबी अपनी पत्नी को पीट रहा था यह कह कर कि वह राम नहीं है जिन्होंने एक

साल तक लंका में रहने पर भी सीताजी को अपने पास रख लिया। यद्यपि श्रीराम के द्वारा सीताजी को स्वीकार करने में कोई दोष नहीं था क्योंकि सीताजी ने अपनी पवित्रता को प्रमाणित करने के लिये अग्निपरीक्षा दे दी थी। श्रीराम ने धोबी की बात पर विचार किया और लोकमत को ध्यान में रखते हुए उन्होंने लक्ष्मण को कहा कि वह सीताजी को वन में छोड़ आये क्योंकि उन्होंने ऋषियों के दर्शन की अभिलाषा भी व्यक्त की हुई थी। सीताजी गर्भवती थीं। लक्ष्मण ने सीताजी को वाल्मीकि के आश्रम के पास छोड़ दिया जो आधुनिक कानपुर के समीप है। यह समझकर कि उन्हें त्याग दिया गया था सीताजी अपने भाग्य को कोसने लगी परन्तु उन्होंने श्रीराम के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। जब वाल्मीकिजी ने पूछा कि वे कौन हैं तो सीताजी ने बताया कि श्रीराम ने उनका त्याग कर दिया। वाल्मीकिजी ने कहा कि श्रीराम का यह क़दम उन्हें ठीक नहीं लगा क्योंकि सीताजी ने पहले ही अपनी पवित्रता तथा निर्दोषता को प्रमाणित करने के लिये अग्निपरीक्षा को उत्तीर्ण कर लिया था। वाल्मीकिजी सीताजी को आश्रम ले गये जहां ऋषियों की पत्नियों ने उनका स्वागत किया और बैठने के लिये कोमल मृगछाला दी। बाद में जब श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ किया तब सोने की सीता बनाकर उनके पास बैठाई गई। जब सीताजी ने यह सुना तो उन्हें लगा कि श्रीराम अब भी उनसे प्रेम करते थे। जब यज्ञीय अश्व आश्रम पहुंचा तब सीताजी के पुत्र लव तथा कुश ने उस अश्व को पकड़ लिया। लक्ष्मणजी घोड़े की रक्षा कर रहे थे लेकिन लव तथा कुश ने उन्हें तथा भरत और शत्रुघ्न को भी पराजित कर दिया। उन्होंने हनुमान् जी को उनकी अपनी ही पूंछ से बांध दिया और सीताजी के पास ले आये। सीताजी ने हनुमान् जी को पहचान लिया। बाबाजी यहां कहते हैं कि जो अन्याय की ओर हैं उनको दण्ड मिलना ही चाहिये। श्रीराम युद्ध नहीं कर सके क्योंकि वे अन्याय के पक्ष में थे।

ऋषि वाल्मीकि ने लव तथा कुश को रामायण सिखाई हुई थी। उन्होंने लव और कुश को अश्वमेध यज्ञ में भेज दिया था। वहां पर लव तथा कुश ने रामायण का गायन किया। उन्होंने इसके लिये

कुछ नहीं लिया। ऋषि वाल्मीकि ने श्रीराम से सीताजी को स्वीकार करने के लिये कहा। श्रीराम ने कहा "हमें लोकापवाद का भय रखना चाहिये।" तब श्रीराम ने दोबारा सीताजी को अपनी पवित्रता प्रमाणित करने के लिये कहा। सीताजी ने हाथ जोड़कर कहा, "यदि मैं श्रीराम के चरणों से अन्यत्र कहीं नहीं गयी होऊँ तो पृथिवी माँ मुझे शरण दे।" तब सीताजी राज्य भोग त्याग कर पृथिवी में समा गयीं। श्रीराम पृथिवी से नाराज़ हो गये और कहा वे उसे नष्ट कर देंगे परन्तु ऋषियों के कहने पर उन्होंने ऐसा नहीं किया।

दस हज़ार साल बाद ब्रह्माजी के दूत श्रीराम के पास आये और उनको स्मरण कराया कि पृथिवी पर उनके रहने का अन्त समय आ गया था। दुर्वासा ऋषि के कारण श्रीराम ने लक्ष्मण का त्याग पहले ही कर दिया था। जब वैराग्य चला गया तो ज्ञान भी अब विदा लेने वाला था। उन्होंने सब अयोध्यावासियों को कहा कि यदि वे उनके साथ चलना चाहते थे तो वे सरयू नदी की ओर चलें। वे सब वहां गये और अयोध्या सूनी हो गई।

इस प्रस्तुति का संक्षेप में सार यह है कि व्यक्ति को निष्कामता की अवस्था प्राप्त कर लेनी चाहिये क्योंकि इच्छा ही मन है जैसा कि बाबा मस्तरामजी कहते हैं, "यदि इच्छा नहीं है तो मन भी नहीं है"(82)। मन ही द्वैत का कारण है जैसा कि माण्डूक्य उपनिषद्, 3. 31 में कहा गया है:

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित् सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।।

"यह जो कुछ चराचर द्वैत है वह सब कुछ मन का दृश्य है क्योंकि जब मन मन नहीं रहता अर्थात् मन में कोई व्यापार नहीं रहता तो यह द्वैत उपलब्ध नहीं होता है।" यही कारण है कि यह कहना उचित लगता है कि बाबा मस्तरामजी बहुत ही ध्यान से वैराग्य को हमारे मन में बैठाना चाहते हैं इसीलिये वे लगातार हमें मृत्यु का स्मरण कराते हैं क्योंकि यह मृत्यु की ही वास्तविकता है जो हमें हमारी नश्वर जगत् के साथ सम्बन्ध की क्षणिकता का ज्ञान कराती है। मानव प्रायशः अपनी

कल्पनाओं में अपने आप को लगाये रखता है लेकिन जो व्यक्ति धन, सम्पत्ति, यश आदि की इच्छा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह सही मार्ग पर चल रहा है। यह सब प्राप्त करने के लिये हमें आत्मा के स्वरूप की ओर ध्यान देना चाहिये। तब धीरे-धीरे हमें ज्ञान होगा कि यह निष्काम मन ही है जो शरीर, इन्द्रिय तथा मन के साथ तादात्म्य अध्यास से ऊपर उठने में हमारी सहायता करेगा। परन्तु निष्कामता की अवस्था को प्राप्त करने के लिये हमें अपनी सब इच्छाओं को, चाहे वे कितनी ही सूक्ष्म हों, पहचानना पड़ेगा। सब इच्छाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। जब सब इच्छाएं अच्छी तरह पहचान ली जाती हैं तब हमें अत्यन्त सावधानी से उनसे मुक्ति प्राप्त करने की ध्यानपूर्वक चेष्टा करनी चाहिये। इच्छा, क्रोध तथा लोभ - यह त्रिक सत्य के जिज्ञासु के लिये सबसे बड़ा शत्रु है और निःसन्देह यह इच्छा ही है जो इन सबके मूल में है। यदि इच्छा का स्वरूप सम्यक् रूप से ज्ञात हो जाता है तो उसको नियन्त्रित करने में हम सफलता प्राप्त कर सकते हैं। जब इच्छा नहीं रहती है तब क्रोध तथा लोभ भी नहीं रहते हैं। जब हम इस त्रिक से पूरी तरह मुक्त हो जाते हैं तब हम अन्तःकरण के साथ आत्मा के साथ तादात्म्य अध्यास से भी मुक्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् हम अहंकाराध्यास से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं।

हरि ॐ तत् सत्